षाण्मासिकी
ISSN 2277-5854
T.R.N.UPMUL 00599

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

आगमतन्त्र की शोधपत्रिका

श्रीविद्या साधना पीठ

वाराणसी -उ.प्र.

अङ्क - १
वर्ष - ३

ब्रह्मलीन पूज्यपाद धर्मसम्राट श्रीहरिहरानन्दसरस्वतीकरपात्रस्वामी
दीक्षानाम - षोडशानन्दनाथ

शिवसायुज्य प्राप्त सीताराम कविराज
दीक्षानाम - दत्तात्रेयानन्दनाथ

T.R.N.UPMUL 00599 ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

श्रीविद्यासाधनापीठ

वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष ३ अङ्क १

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी १३/९० सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

अगस्त, २०१३

सम्पादक :

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र

प्राप्तिस्थान

प्रकाशन विभाग

श्रीविद्यासाधनापीठ

शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी

दूरभाष : ०५४२-२३६६६२२

T.R.No. UPMUL 00599

ISSN. 2277-5854

सङ्गणकटङ्कित :

विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :

स्टार लाईन

सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : १२५/-

T.R.N.UPMUL 00599 ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष ३ अङ्क १

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

August , 2013

Editor :
Prof. Shrikishore Mishra

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

T.R.No. UPMUL 00599
ISSN. 2277-5854

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printed at :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

सम्पादकीय

भारतीय आध्यात्मिक साधना की परंपरा में श्रीविद्या की साधना को शिखर के स्वरूप में स्वीकार किया गया है और उसे ब्रह्मविद्या कहा गया है। श्रीविद्या शाक्तदर्शन की मूर्धन्य विद्या है और इसे परमगुह्य रहस्य साधना के अन्तर्गत माना गया है। इसलिए यह प्रसिद्ध उक्ति है "राज्यं देयं शिरो देयं न देया षोडशाक्षरी" अर्थात् राज्य देना पड़े तो दे दे, अपना सिर भी देना हो तो दे देना चाहिए, पर षोडषाक्षरी श्रीविद्या कथमपि नहीं देनी चाहिए। श्रीविद्या के इस परम गुह्य और आध्यात्मिक स्वरूप को अपकृष्ट करते हुए इस शब्द में संयुक्त किये हुए श्रीपद का लक्ष्मी अर्थ लेकर इसे केवल लक्ष्मी की प्राप्ति की विद्या में प्रचारित किया जा रहा है जो कि श्रीविद्या साधना का आनुषंगिक फल है। उसका परम प्रयोजन तो मोक्षप्राप्ति ही है।

इस श्रीविद्या साधना के बीज वेद की मन्त्रसंहिताओं, उपनिषदों और पुराणों में निहित है किन्तु उसका विस्तृत विवेचन और विधि-विधान तन्त्रों में विवृत किया गया है। वस्तुत: तन्त्र, जिन्हें आगम भी कहते हैं, वेद में वर्णित साधना का विवरण प्रस्तुत करते हैं और वेदों के परिपूरक हैं। जो बात वेदों में सूत्र रूप में कही गयी है उसका तन्त्र विस्तृत क्रियात्मक विवरण प्रस्तुत करते हैं। पूज्य गुरु दत्तात्रेयानन्दनाथ जी महाराज ने यह स्पष्ट किया है कि भोग और मोक्ष-- दोनों को ही प्रदान करने वाले तथा उपासना और ज्ञान के स्वरूप के साधनभूत उपायों को बताने वाले वाङ्मय भाग को आगम या तन्त्र कहते हैं, जो कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के रूप में प्राप्त वेद के परिपूरक भाग हैं।

तन्त्र वाङ्मय अत्यन्त विस्तृत है। इसमें भी शाक्त आगम का विशेष स्थान है। शाक्त आगम/तन्त्र में श्री परशुरामकल्पसूत्र, त्रिपुरार्णव, तन्त्रराजतन्त्र और योगिनीहृदय, श्रीविद्यार्णव आदि ग्रन्थों का विशेष रूप से महत्त्व है। योगिनीहृदय वस्तुत: वामकेश्वर तन्त्र के उत्तर भाग का नाम है। इसका पूर्व भाग नित्याषोडशिकार्णव है। इस प्रकार इन दो चतु:शतियों के अर्थात् नित्याषोडशिकार्णव और योगिनीहृदय के समुच्चित रूप वामकेश्वरतन्त्र को श्रीविद्या का प्रतिपादक पौंसठवाँ तन्त्र कहते हैं। इसमें श्रीविद्या का पूर्णरूप से निरूपण और विधान किया गया है। पुन: क्रमशास्त्र में भी इसका विवरण दिया गया, जिसमें महेश्वरानन्दनाथ विरचित महार्थमंजरी और उस पर उनके द्वारा ही लिखित परिमल टीका भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार महेश्वरानन्द नाथ से पहले नित्याषोडशिकार्णव पर ऋजुविमर्शिनी टीका लिखने वाले श्री शिवानन्दनाथ भी श्रीविद्या के व्याख्याता महान् आचार्य थे। उन्होंने 'अर्थरत्नावली' पर भी टीका की, जिसकी रचना उन्हीं के समकालीन विद्यानन्द ने की थी। अर्थरत्नावली से एक अन्य ग्रन्थ का भी पता चलता है। वह है ज्ञानदीपविमर्शिनी। श्रीविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थों में कामकलाविलास और उस पर लिखी गई दीपिका टीका भी महत्त्वपूर्ण है। इसी क्रम में महान् आचार्य भास्कर राय का भी स्मरण करना आवश्यक है जिन्होंने योगिनीहृदय पर 'सेतुबन्ध' नाम की टीका की। साथ ही ललितासहस्रनाम पर सौभाग्यभास्कर नाम का उनका भाष्य सुप्रसिद्ध है।

योगिनीहृदय में श्रीचक्र अथवा श्रीयन्त्र तथा यन्त्र एवं पूजा के संकेतों का अत्यन्त सूक्ष्म विचार किया गया है। वस्तुत: श्रीविद्या के तीन रूप हैं - स्थूल, सूक्ष्म और पर। उसमें श्रीचक्र का अर्चन आपेक्षिक रूप से स्थूल कहा गया है। सूक्ष्म रूप श्रीविद्या मन्त्र है और परापूजा देह में श्रीचक्र की भावना की विधि है। अत: श्रीचक्र के संकेत अभिप्राय अथवा प्रतीक को सर्वप्रथम अत्यन्त सरल रूप में समझना आवश्यक है।

श्रीचक्र समष्टि अथवा महासमष्टि रूप विश्व है, वहीं दूसरी ओर व्यष्टि रूप मानव देह है। यह दोनों के साथ अभिन्न है। पराशक्ति विश्वरूप होने पर भी चक्ररूप में प्रकाशमान नहीं है। इसलिए वह विश्व की अस्फुरित अवस्था है। विश्व की सृष्टि की इच्छा का स्फुरण होते ही वह चक्र रूप धारण कर लेती है। यह स्मरण रखना समीचीन होगा कि शाक्तदर्शन के अनुसार समस्त चराचर जगत् शक्ति से ही उत्पन्न होता है। इसीलिए शाक्त सम्प्रदाय में परतत्त्व को शक्ति के रूप में ही परमाराध्य माना जाता है। तत्-तत् देवताओं में निहित शक्ति से ही वे अधिकृत कार्य कर पाते हैं। अत: सभी का मूल आधार शक्ति है और वह परमशक्ति ही श्रीललितामहात्रिपुरसुन्दरी हैं। आगम शास्त्रों में शिवतत्त्व ही परब्रह्म है और शक्तितत्त्व शब्दब्रह्म है। पूज्य गुरुदेव श्री दत्तात्रेयानन्दजी बार-बार यह कहा करते थे कि माता ही पिता का ज्ञान करा सकती है। अत: शक्ति की उपासना से शिवत्व प्राप्ति ही शब्दब्रह्म से परब्रह्म की प्राप्ति है। शिवतत्त्व शक्ति के साथ संयुक्त होकर षट्त्रिंशत् (36) तत्त्वरूपी उपादान से जगत् को व्यक्त अथवा दृश्यमान रूप में आभासित करता है। जीव शक्ति की उपासना में ही शिवतत्त्व को प्राप्त करता है। इसीलिए परशुरामकल्पसूत्र में कहा गया "षट्त्रिंशत् तत्त्वानि विश्वम्, शरीरकञ्चुकित:शिवो जीव:, निष्कुञ्चक: परम: शिव:"। वस्तुत: स्व स्वरूप का विमर्शन ही परम पुरुषार्थ है और इसका आधार है यह सिद्धान्त कि वर्णात्मक शब्द नित्य हैं और मन्त्रों में अचिन्त्य शक्ति है।

श्रीविद्या साधना वस्तुत: इसीलिए स्वीय पूर्णसंवित् की उपासना है। समस्त विश्व में और विश्व के अनन्तानन्त प्राणियों में व्याप्त चैतन्य तत्त्व ही श्री ललितामहात्रिपुरसुन्दरी हैं। वे पूर्णस्वातन्त्र्यशक्तिरूप हैं। सर्वज्ञान और सर्वक्रियासम्पन्न चेतनातत्त्व स्वात्मसंवित् रूप है। अत: स्वसंवित् की उपासना ही श्रेष्ठ है। इस स्वसंवित् रूप अर्थात् आत्मरूपा श्री ललितामहात्रिपुरसुन्दरी की उपासना का मूल आधार श्रीविद्या है जो श्रीचक्र की उपासना रूप में प्रथमतया प्रकट है। श्रीचक्र अथवा श्रीयन्त्र शिव और शिवा का विग्रह है। एक ही ज्योति द्विधा व्यक्त होती है। यह समस्त विश्व परम शक्ति से ही स्फुरित हुआ है। वह परमशक्ति ही स्वेच्छया विश्वरूप में स्फुरित होती है। तभी श्रीचक्र का उदय होता है। इसीलिए नित्याषोडशिवागम में कहा गया है -

यदा सा परमाशक्ति: स्वेच्छया विश्वरूपिणी ।
स्फुरत्तामात्मन: पश्येत् तदा चक्रस्य संभव:॥

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि पराशक्ति विश्वरूप होने पर भी चक्ररूप में प्रकाशमान नहीं है, उस पराशक्ति की सिसृक्षा स्फुरित होने पर ही वह चक्ररूप धारण कर लेती है। पराशक्ति विमर्शरूपा है। जगत् का उद्गीर्ण और निगीर्ण होना उसकी स्वेच्छा का स्फुरण माना है। सृष्टि के पूर्व कोई प्रपंच न रहने के कारण उसे शून्य कहा गया है। यह प्रकाशात्मक स्थिति है। इसी का तान्त्रिक सांकेतिक अथवा प्रतीकात्मक भाषा में विन्दु नाम है। यह अग्नि और सोम के सामरस्य की स्थिति है। अग्नि और सोम के सामरस्य रूप यह विन्दु ही काम अथवा सूर्य है। यही शिव और शक्ति का सामरस्यरूप चिद्गगन है। इसी सामरस्यात्मक काम विन्दु के दो रूप हैं - एक अग्नि स्वरूप है और दूसरा सोम स्वरूप है। अग्नि स्वरूप को ही 'अ' और सोम स्वरूप को ही 'हं' के द्वारा कहा गया है। पुन: अग्नि विन्दु को ही रक्त स्वरूप और सोम विन्दु को शुक्ल स्वरूप बतलाया गया है। दोनों विन्दुओं के संयोग से चित्कला या संवित् का आविर्भाव हुआ है।

यह संवित् पुन: प्रकाशरूपी अग्नि से सम्बन्ध के कारण विमर्शरूपी चन्द्रविन्दु का स्राव है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज जी ने इन दोनों विन्दुओं के अन्तराल या मध्यावस्था से नि:सृत धारा को ही विमर्श शक्ति की लहरी के रूप में परिभाषित किया है। इसे ही आगम के सांकेतिक भाषा में 'हार्धकला' कहा गया है, जो विमर्शरूपिणी है। यहीं से सृष्टि का आरम्भ होता है। जब कामकला रूप अक्षर इस हार्धकला के साथ युक्त होता है तब इस अक्षर के वैन्दवचक्र का आविर्भाव होता है।

श्रीचक्र में विन्दु, त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार-बहिर्दशार, चतुर्दशार, अष्टदल, षोडशदल, वृत्तत्रय और भूपुर इस नवयोन्यात्मक समस्त ब्रह्माण्डस्वरूप के नियामक रेखात्मक श्रीयंत्र का प्रादुर्भाव होता है। वैन्दवचक्र त्रिरूप है और पुन: उसकी त्रिरूपता होती है। इस प्रकार यह नवयोन्यात्मक चक्र आविर्भूत होता है। त्रिकोण और अष्टकोण मुख्य चक्र है। शेष सभी कोणों और दलों का इन्हीं नवयोनियों में समावेश हो जाता है।

इस प्रकार विन्दुरूप आवरण को सर्वानन्दमय कहते हैं और इसकी चक्रेश्वरी ललितामहात्रिपुर सुन्दरी हैं जिसके पूज्य देवता एक हैं। त्रिकोण को सर्वसिद्धप्रद कहते हैं और इसकी चक्रश्वरी त्रिपुराम्बा है और पूज्य देवता तीन हैं। तृतीय आवरण अष्टकोण है जिसको सर्वरोगहर कहते हैं। इसकी चक्रेश्वरी त्रिपुरासिद्धा हैं और पूज्य देवता आठ हैं। चतुर्थ आवरण अन्तर्दशार सर्वरक्षाकर कहलाता है। इसकी चक्रेश्वरी त्रिपुरमालिनी हैं और पूज्य देवता दस हैं। पंचम आवरण बहर्दशार सर्वार्थसाधक है और इसकी चक्रेश्वरी त्रिपुराश्री है, पूज्य देवता दस हैं। षष्ठ या छठां आवरण चतुर्दशार है। इसे सर्वसौभाग्यदायक कहते हैं। इसकी चक्रेश्वरी त्रिपुरवासिनी है और पूज्य देवता चौदह हैं। सप्तम आवरण अष्टदल कमल है। यह सर्वसंक्षोभक कहलाता है। इसकी चक्रेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी है और पूज्य देवता आत हैं। अष्टम आवरण षोडशदल है जो सर्वाशापूरक कहलाता है। इसकी चक्रेश्वरी त्रिपुरेशी हैं और पूज्य देवता सोलह है। नवम आवरण गोपुर है जो त्रैलोक्यमोहन चक्र है। इसकी चक्रेश्वरी त्रिपुरा हैं और इसमें पूज्य देवता अट्ठाइस हैं।

श्रीचक्र के इस नवावरण अर्चन में विभिन्न शक्तियों का अर्चन होता है। ये शक्तियां सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नियंत्रित करती है। अत: श्रीयन्त्र और विश्व का तादात्म्य है। इस उपासना के द्वारा साधक इन शक्तियों का अर्जन कर अपने मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और दशों इन्द्रियों पर नियंत्रण का सामर्थ्य प्राप्त करता है। इस उपासना में ही श्रीयन्त्र और देह की एकता का भावन होता है और साधक अपने शरीर को ही श्रीयन्त्र के रूप में भावित कर लेता है। यह श्रीचक्र महात्रिपुरसुन्दरी का साक्षात् विग्रह और पराशक्ति का अभिव्यक्ति स्थान है। इससे योगापवर्गात्मक सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। श्रीचक्र के स्वरूप के सम्बन्ध में तथा श्रीचक्र के अर्चन के अधिकारादि के सम्बन्ध में साधक श्रीविद्या रत्नाकर के श्रीचक्रस्वरूप प्रकरण का अवलोकन करें, जिसमें विशेष सामग्री गुरुवर्य्य ने कृपापूर्वक सरल संस्कृत भाषा में उपदिष्ट की है।

दुर्गासप्तशती के अनुसार भगवती चण्डी का तात्त्विक स्वरूप

पूज्यपाद ब्रह्मलीन अनन्तश्री स्वामी करपात्रजी महाराज

तन्त्र के अनुसार प्रकाश ही शिव और विमर्श ही शक्ति है। संहार में शिव का प्राधान्य रहता है, सृष्टि में शक्ति का प्राधान्य रहता है। प्रमा में इदमंशग्राह्य होता है, अहमंश ग्राहक होता है। माना यह जाता है कि भीतर वर्तमान पदार्थों का ही बाह्यरूप में अवभास होता है—

वर्त्तमानावभासानां भावनामवभासनम्।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना।।

प्रकृति में ही सूक्ष्मरूप से सब वस्तुस्थिति है। परम शिव और शक्ति दोनों ही श्लिष्ट होकर रहते हैं। निस्पन्द परम शिवतत्त्व और निषेधात्मक तत्त्व ही शक्तितत्त्व है।

असीज्ज्ञानमयो ह्यर्थः एकमेवाविकल्पितः।

अर्थात् ज्ञान और अर्थ दोनों ही अविकल्पित होकर एक में रहते हैं, तब साम्यावस्था समझी जाती है।

भगवती चण्डी का तात्त्विक रहस्य

ज्ञानस्वरूप पुरुष की सत्ता पारमार्थिक है, अर्थरूप प्रकृति की सत्ता अवास्तविक है। उसकी अविद्यमानता का वर्णन बहुत स्थानों में मिलता है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्त्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा।।

अर्थ के न रहने पर भी संसृति की निवृति नहीं होती, जैसे स्वप्न में अर्थ न रहने पर भी वह भासमान होता है, वही स्थिति अर्थ की है। विशेषतः माया का यही लक्षण *श्रीमद्भागवत* में किया गया है जिसके कारण कोई वस्तु न होने पर भी प्रतीत हो, वस्तु होती हुई भी न प्रतीत हो, वही माया है, जैसे स्वाप्निक प्रपञ्च, शुक्तिरूप्य, रज्जुसर्पादि पदार्थ न होने पर भी भासमान होते हैं, तम-राहु आकाश में विद्यमान रहने पर भी नहीं भासित होते—

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः।।

शक्ति शब्द से जैसे अचित् प्रकृति के अतिरिक्त पराप्रकृति, जीव आदि का भी ग्रहण होता है, वैसे ही भगवती शब्द से शुद्ध निर्गुण चिच्छक्ति का भी बोध होता है। इसीलिये उपासकों की उपास्यशक्ति या भगवती को केवल प्रकृति या माया न समझना चाहिये, किन्तु सच्चिदानन्दात्मिका भगवती ही उपास्य होती है।

रात्रिरूपिणी

रात्रिसूक्त रात्रिदेवता का प्रतिपादन करता है। रात्रिदेवता दो हैं, एक जीवन-सम्बन्धिनी, दूसरी ईश्वरसम्बन्धिनी। प्रथम का अनुभव सभी लोग करते हैं, जिसके सम्बन्ध से प्रतिदिन समस्त व्यवहार लुप्त हुआ करता है। ईश्वररात्रि वह है, जिसमें ईश्वर का व्यवहार भी लुप्त होता है, उसी को महाप्रलय कालस्वरूप कहा जाता है। उस समय दूसरी कोई भी वस्तु नहीं रहती, केवल मायाशबलित ब्रह्म ही रहता है, उसे ही अव्यक्त भी कहा जाता है।

ब्रह्ममायात्मिका रात्रिः परमेशलयात्मिका।
तदधिष्ठातृदेवी तु भुवनेशी प्रकीर्त्तिता।। —*देवीपुराण*

ब्रह्ममायात्मिका रात्रि की अधिष्ठात्री देवता ही भगवती भुवनेश्वरी है। **रात्रौ व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः विश्वा** इत्यादि का सारांश यह है कि सर्वकारणभूता चिच्छक्ति भगवती पूर्वकल्पीय अनन्त जीवों के अपरिपक्व अतएव फलानभिमुख सत्-असत् कर्मों को देखकर फल प्रदान का समय न होने से ऐश्वरप्रपञ्च को अपने में ही प्रलीन कर लेती है। पश्चात् वही रात्रिरूपा चिच्छक्ति फलप्रदान का समय आने पर महदादि द्वारा प्रपञ्च का निर्माण करके असाङ्कर्येण तत्तत्प्राणियों के कर्मों को देखती है। फिर उन कर्मों का फल प्रदान करती है। इससे रात्रिरूपा भगवती की सर्वज्ञता स्पष्ट है। वह अमर्त्या देवी अन्तरिक्षोपलक्षित समस्त विश्व को अपने स्वरूप से पूरित कर देती है। नीची वस्तु लता-गुल्मादि और उच्छ्रित वृक्षादि को भी अधिष्ठान चैतन्य से पूरित कर देती है और वही परा चिद्रूपा देवी स्वीकार-वृत्तिप्रतिबिम्बितस्वरूप चैतन्य ज्योति से तम उपलक्षित सम्पूर्ण प्रपञ्च को बाधित कर देती है। आती हुई देवनशील रात्रि चिच्छक्ति प्रकाशस्वरूपा उषा (प्रातःकाल) को अर्थात् अविद्या की आवरण शक्ति को तिरस्कृत करती है।

यद्यपि रात्रि द्वारा प्रकाशस्वरूपा उषा का निराकरण असम्भव मालूम पड़ता है, तथापि यहाँ चिद्रूपा रात्रि ही परम प्रकाशरूपा है, तदपेक्षया सन्ध्या या उषा अन्धकाररूप ही है। जैसे सूर्य्य के प्रकट होने पर सन्ध्या मिट जाती है, वैसे ही चिच्छक्ति के स्वीकार वृत्ति पर प्रतिबिम्बित होने पर अविद्या का आवरण शक्ति मिट जाती है। आवरण शक्ति के दग्ध बीज हो जाने पर प्रारब्ध क्षय के अनन्तर मूलाज्ञानरूप तम सर्वथा नष्ट हो जाता है। दोनों शक्तियों के नष्ट हो जाने पर मूलाज्ञान का भी अवशेष नहीं रहता। वह रात्रिदेवता परा चिच्छक्ति हम सब पर प्रसन्न रहे, जिसकी प्राप्ति में हम सब सुखस्वरूप में वैसे स्थित होते हैं, जैसे अपने घोसले में पक्षी रात्रिवास करता है। ग्राम के आस-पास सभी लोग तथा गवाश्वादि, पक्षी तथा भिन्न प्रयोजन से चलने वाले पथिक एवं श्येन आदि उस रात्रि में प्रविष्ट होकर सुख से स्थित होते हैं। दिन के सञ्चार से भ्रान्त प्राणियों को यह रात्रि ही सुख पहुँचाती है, उस समय सब लोग विश्राम करने लगते हैं। सारांश यह है

कि जो प्राणी भुवनेश्वरी के नाम तक से भी परिचित नहीं है, वे भी करुणामयी परा चिच्छक्ति अम्बा को करुणा से ही उसके अङ्क में जाकर सुख से उसी तरह सोते हैं, जिस तरह मूढ़ बालक माता की करुणा से स्वस्थ सोते हैं। ऐसी करुणामयी यह चिच्छक्ति है। हे ऊर्म्ये! रात्रिदेवी! चिच्छक्ते! आप परम दयामयी हैं, अतः हमारे कृत्यों की ओर न देखकर हिंसा करने वाले मारक पापरूप वृक (भेड़िया) और नानावासनारूपी वृकी को हमसे पृथक् कर दो और चित्त वित्त के अपहारक कामादि दोषों को भी हमसे हटा दो और हमारे लिए आप सुखेन तरणी या और क्षेमकरी हो। सम्पूर्ण वस्तुओं में फैले हुए कृष्णवर्ण स्पष्ट अज्ञान हमको घेरे हुए है। हे उषोदेवते! आप ऋण के समान उस अज्ञान को दूर कर दो। जैसे अपने स्तोताओं का ऋण आप दूर करती हैं, वैसे ही हमारे अज्ञान को दूर करें। हे रात्रिदेवते! चिच्छक्ते! कामधेनु के समान सर्वाभीष्टदायिनी आपको प्राप्त करके स्तुति-जपादि से अभिमुख करता हूँ। आप प्रकाशरूप परमात्मा की पुत्री है। परमात्मा से ही अन्यत्र चैतन्य शक्ति की अभिव्यक्ति होती है, इस विवक्षा से भगवती को दिवोदुहिता कहा गया है।

चण्डी

एक दृष्टि से भगवती को परब्रह्म को महिषी कहा जाता है—

त्वमसि परब्रह्म महिषी।

उसी दृष्टि से उनका नाम 'चण्डिका' है। **'चण्डभानुः चण्डवातः'** इत्यादि स्थानों में इयतानवच्छिन्न असाधारणगुणशाली वस्तु में 'चण्ड' शब्द का प्रयोग होता है। देश-काल वस्तु परिच्छेदशून्य वस्तु परमात्मा ही है। भानु, वात आदि का विशेषण होने से वह सङ्कुचित वृत्ति हो जाता है। 'चडि कोपे' धातु से 'चण्ड' शब्द की निष्पत्ति है।

कस्य बिभ्यति देवाश्च कृतरोषस्य संयुगे।

किसको रोष उत्पन्न होने से देवताओं को भी डर होता है?

प्रसादो निष्फलो यस्य कोपोऽपि च निरर्थकः।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव प्रजाः।।

अर्थात् जिसका क्रोध और प्रसाद निष्फल होता है, उसे प्रजा उसी तरह स्वामी नहीं मानती, जिस तरह षण्ढ पुरुषों को स्त्रियाँ पति नहीं बनातीं। इसीलिये सफल उग्र क्रोध या उग्र क्रोधवाला पुरुष भी 'चण्ड' कहलाता है। महाभयजनक कोप ही चण्ड कहा जाता है और वह भयजनक कोप परमेश्वर का नहीं है। **'नमस्ते रुद्रमन्यवे'** इस वचन में रुद्र के मन्यु-कोप को प्रमाण किया गया है। संसार में चण्ड से ही सब डरते हैं। स्पष्ट है कि जिसक दण्ड प्रबल होता है, उसी का शासन चलता है। सर्व-संहारक से सब डरते हैं, सर्वसंहारक मृत्यु से भी सब डरते हैं, मृत्यु भी चण्ड है।

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।।

अर्थात् परमेश्वर के डर से वायु चलता है, भय से सूर्य्य उदित होता है, भय से अग्नि और इन्द्र भी अपना-अपना काम करते हैं। सर्वभय कारण मृत्यु भी जिससे डरता है, वही भगवान् परमात्मा है। उसको मृत्यु का भी मृत्यु, काल का भी काल या महाकाल किंवा चण्ड कहा जा सकता है, वही सर्वसंहारक है। उससे भिन्न सब संहार्य्य कोटि में आ जाता है। उत्पादक, पालक ब्रह्मा, विष्णु आदि उसके स्वरूप ही हैं, इसीलिए वे भी असंहार्य्य हैं। यदि भिन्न होते तो अवश्य संहार्य्य होते, अन्यथा इसीको एकोनसर्वसंहारक कहना पड़ेगा। इसीलिये जिसका विश्व, वही उसका उत्पादक, वही पालक और वही संहारक है।

एकेश्वरवाद सर्वत्र मान्य है ही, उसीको महद्भय बज्ररूप भी कहा गया है। **'महद्भयं बज्रमुद्यतम्'** जैसे उद्यत बज्र के डर से भृत्य लोग तत्परता से कम करते हैं, वैसे ही परमात्मा के डर से सूर्य्य, इन्द्र, चन्द्र आदि सावधानी से अपने-अपने कार्य में संलग्न होते हैं। उसी चण्ड की स्वरूपभूता शक्ति पत्नी चण्डिका है। जैसे परमेश्वर के ही घोर रूप से पृथक् शान्त रूप भी है **'घोरान्या शिवान्या'** वैसे ही भगवती के भी उग्र और शान्त दोनों ही रूप हैं। कुछ लोगों का कहना है कि एक ही परब्रह्म माया से धर्मी और धर्म दो रूप में प्रकट होता है। सृष्टि के आरम्भ में जो **'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय'**, **'सोऽकायत'**, **'तत्तपोऽकुरुत'** इत्यादि से ज्ञान, इच्छा और क्रिया का श्रवण है, यही तीनों ब्रह्म के धर्म हैं। यह सब धर्मीरूप ब्रह्म से अभिन्न ही हैं, क्योंकि श्रुति ने ही इन्हें स्वाभाविकी कहा है। **'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।'** यहाँ 'बल' से इच्छा का ग्रहण समझना चाहिये। इस धर्म को ही शक्ति कहा जाता है। तथा च समष्टि ज्ञानेच्छाक्रियारूप ब्रह्मधर्मरूपा शक्ति ही चण्डी है, यही महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती है। कार्यवशात् इसीका अनेक रूप में प्राकट्य होता है। वस्तुतस्तु उसी चण्डरूप परमात्मा में ही पुंस्त्व, स्त्रीत्व भक्तभावना के अनुसार है। पुंस्त्वविवक्षा से वही महारुद्र आदि शब्दों से, स्त्रीत्व-विवक्षा से वही चण्डी, दुर्गा आदि शब्दों से व्यवहृत होता है।

नवार्ण मन्त्रार्थ

नवार्णमन्त्र का भी अभिप्राय यही है। *डामरतन्त्र* में उसका अर्थ इस प्रकार बतलाया गया है—

निर्धूतनिखिलध्वान्ते नित्यमुक्ते परात्परे।
अखण्डब्रह्मविद्यायै चित्सदानन्दरूपिणि।
अनुसन्दध्महे नित्यं वयं त्वां हृदयाम्बुजे।

अर्थात् हे निर्धूतनिखिलध्वान्ते! हे नित्यमुक्ते! हे परात्परतरे! चित्सदानन्दरूपिणि माँ! मैं अखण्ड ब्रह्मविद्या के लिये आपका अपने हृदय-कमल में अनुसन्धान करता हूँ।

'ऐं' इस वाग्बीज से चितस्वरूपा सरस्वती बोधित होती हैं, क्योंकि ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है। महावाक्यजन्य परब्रह्माकारवृत्ति पर प्रतिबिम्बित होकर वही चिद्रूपा भगवती अज्ञान को मिटाती है। 'ह्रीं' इस मायाबीज से सद्रूपा महालक्ष्मी विवक्षित है। त्रिकालबाध्य वस्तु ही नित्य है। कल्पित आकाशादि प्रपञ्च के अपवाद का अधिष्ठान होने से सद्रूपा भगवती ही नित्यमुक्ता हैं।

'क्लीं' इस कामबीज से परमानन्दस्वरूपा महकाली विवक्षित हैं, सर्वानुभव-संवेद्य आनन्द ही परम पुरुषार्थ है। **आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति** इस श्रुति से सिद्ध है कि सब कुछ आत्मा के लिए ही प्रिय होता है, इसलिये आत्मस्वरूपा आनन्द ही शेषी है, तदितर सब शेष है। मानुषानन्द से लेकर गन्धर्व, देवगन्धर्व, अजानजदेव, श्रौतदेव, इन्द्र, वृहस्पति, प्रजापति, ब्रह्मान्त उत्तरोत्तरशतगुणित आनन्द जिसका बिन्दुमात्र है, वह परमातिशायी ब्रह्मरूप आनन्द कहा गया है। वही परात्पर आनन्द महाकालीरूप है। 'चामुण्डायै' शब्द से मोक्षकारणीभूत निर्विकल्पक ब्रह्माकार वृत्ति विवक्षित है। विपदादिरूप चमू को जो नष्ट करके आत्मरूप कर लेती है, वही 'चामुण्डा' ब्रह्मविद्या है। अधिदैव के मूलाज्ञान और तूलाज्ञानरूप चण्ड-मुण्ड को वश में करने वाली भगवती भी चामुण्डा कही गयी है—

यस्माच्चण्डञ्च मुण्डञ्च गृहीत्वा त्वमुपागता।
चामुण्डेति ततो लोके ख्याता देवि भविष्यसि।। — *दुर्गासप्तशती ७. २८*

'विच्चे' में 'वित्', 'च', 'इ' ये तीन पद क्रमेण चित्, सत्, आनन्द के वाचक हैं। 'वित्' का ज्ञान अर्थ स्पष्ट ही है, 'च' नपुंसकलिङ्ग 'सत्' का बोधक है, 'इ' आनन्दब्रह्ममहिषी का बोधक है। इसका सारांश यही है कि हे चित्-सत्-परमानन्दरूपे! निर्धूतनिखिलध्वान्ते! नित्यमुक्ते! परात्परे महासरस्वती! महालक्ष्मि! महाकालि! हम अपके तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने के लिए आपका हृदयकमल में ध्यान करते हैं।

प्रथम चरित्र

दुर्गासप्तशती में यह स्पष्ट बतलाया गया है कि भगवती की कृपा से ही सम्यक् तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान की प्रशंसा सर्वत्र है, ज्ञान के होने से अज्ञान, मोहादि मिट जाते हैं। ज्ञान सम्पादन के लिए ही श्रवणादि किये जाते हैं। जप, तप, यज्ञादि सबका परम उपयोग ज्ञान में ही है। परन्तु वह ज्ञान साधारण ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्दादि विषयों का ज्ञान तो प्राणिमात्र को होता है। उलूकादि दिन में अन्धे होते हैं, रात्रि में नहीं; कोकादि रात्रि में अन्धे होते हैं, दिन में नहीं। लता, जलजन्तु आदि दिन-रात समान रूप से अन्धे ही रहते हैं।

राक्षस, मार्जार, तुरगादि दिन-रात समान चाक्षुष ज्ञानवाले होते हैं और सबकी अपेक्षा मनुष्य में अधिक ज्ञान होता है, परन्तु अज्ञान उनमें भी होता है। पशु, पक्षी आदि सभी बहुत ज्ञानवाले होते हैं। व्यवहारज्ञान मनुष्यों जैसा ही पशु-पक्षियों में भी दिखायी देता है। पक्षिगण स्वयं भूखे रहकर भी इतस्ततः से कणों को लाकर अपने बच्चों के मुँह में छोड़ते हैं। मनुष्य भी प्रत्युपकार की आशा से बच्चों के भरण-पोषण में तल्लीन रहते हैं, यह सब ज्ञान सामान्य ज्ञान है। इनसे संसार के मूलभूत अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। यही महामाया का प्रभाव है, जिससे सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश परब्रह्म का बोध नहीं होता। वही उपनिषज्ज्ञाननिष्ठ वशिष्ठ, भरत, विश्वामित्रादिकों के भी चित्त को बलात् मोहित कर देती है। वही चराचर प्रपञ्च का निर्माण करती है, वही प्रसन्न होकर मुक्ति प्रदान करती है, विद्यारूप होकर वही मुक्तिप्रदा है, अविद्यारूप से वही संसारबन्ध का हेतु है, वही भगवान् विष्णु की योग-निद्रा कहलाती है। जिस समय भगवान् शेष पर कल्पान्त

में विराजमान थे, उस समय कूर्मपृष्ठ पर जल में विलीन होने के कारण पृथ्वी नवनीत के समान कोमल हो गयी। सृष्टिकाल में यह प्राणियों को किस तरह धारण कर सकेगी, यह सोचकर भगवती ने विष्णु को अपनी योगनिद्रा शक्ति से प्रसुप्त करके अपने वामहस्त की कनिष्ठिका के नखाग्र भाग से कर्णमल निकालकर उसीसे मधु नामक दैत्य को और दक्षिण कर्णस्थ मल से कैटभ को बनाया। उत्पन्न होकर वे दोनों दैत्य पहले कीट के समान ही प्रतीत हुए, पश्चात् महाबलवान् हो गये। वरदान देकर देवी के अन्तर्हित होने पर विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल में उन दोनों ने ब्रह्मा को देखा। ब्रह्मा को देखकर उन्होंने कहा—

"हम तुम्हें मारेंगे। अगर तुम जीना चाहते हो, तो विष्णु को जगाओ।"

यह सुनकर ब्रह्मा ने जगत्प्रसूयोगनिद्रा की अनेक स्तुतियों से प्रार्थना की। भगवती ने प्रसन्न होकर बह्मा से वरदान माँगने को कहा। ब्रह्मा ने भगवान् का जागना और दोनों असुरों को मोह होना माँगा। माता ने विष्णु को जगा दिया। विष्णु से उन दैत्यों पर पाँच हजार वर्ष तक घोर युद्ध हुआ। महाप्रमत्त उन दैत्यों ने महामाया से मोहित होकर विष्णु से वर माँगने को कहा।

विष्णु ने कहा—

"तुम दोनों हमारे वध्य हो, हम यही वर माँगते हैं।"

उन्होंने कहा—

"अच्छा जहाँ सलिल से व्याप्त पृथ्वी न हो, वहाँ हमें मारो।"

विष्णु ने अपने जघन प्रदेश पर उनका शिर रखकर चक्र से उन्हें मार दिया, पश्चात् उन्हीं के मेद का विलेपन कर पृथ्वी को दृढ़ किया गया, इसीलिये पृथ्वी को 'मेदिनी' भी कहा जाता है। इस तरह भगवती ही अनेक रूप में प्रकट होकर जगत् को धारण करती है। यही सृष्टि, स्थिति, संहार करती है, यही योगनिद्रा होकर विष्णु को विश्राम देती है, यही स्वाहारूप से देवताओं को, स्वधारूप से पितरों को, वषट्काररूप से श्रौतदेवताओं को तृप्त करती है। यही उदात्तादि स्वरों और सुधारूप से विराजमान होती है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतरूप में किंवा अ, उ, म् रूप में यही अक्षररूपा भगवती विराजमान होती है। अ, उ, म् इन तीनों वर्णों एवं तद्वाच्य विश्व, तैजस, प्राज्ञ आदि के रूपों में भी वही भगवती स्थित है। वाच्य-वाचक के अधिष्ठानरूप अर्धमात्रास्वरूप से भी भगवती ही विराजमान है।

अकारश्च तथोकारो मकारश्चाक्षरत्रयम्।
एता एव त्रयो मात्रा सत्त्वराजसतामसाः॥
निर्गुणा योगिगम्याऽन्या चार्धमात्रात्र संस्थिता। —*दत्तात्रेयसंहिता*

प्रथम मात्रा व्यक्त है, द्वितीय मात्रा अव्यक्त है, तृतीय मात्रा चिच्छक्ति है, अर्द्धमात्रा परमपद है, वही कूटस्थ सर्वाधिष्ठान है, सर्वरूप से भगवती ही विराजमान है। सन्ध्या, सावित्री तथा जगज्जननी मूलप्रकृतिरूप से भी माता की ही स्थिति है। सृष्टिकाल में वही सृष्टिरूप में, पालनकाल में स्थितरूप से तथा अन्त में संहृतिरूप से भगवती ही व्यक्त होती है। वही महविद्या अर्थात् तत्त्वमस्यादि महावाक्यों से व्यक्त

ब्रह्मविद्यारूपा है, वही देहात्मबुद्धिरूपा माया भी है, सर्वार्थावधारणरूपा मेधा, महास्मृतिरूपा भी वही है, उसीसे अतीत अनेक कल्पों का स्मरण तथा तदनुकूल सृष्टि-निर्माण सम्भव होता है, ग्राम्यसुखभोगैषणारूप महामोह भी वही है, महादेवी इन्द्रादि देवशक्ति, हिरण्याक्ष प्रभृति असुरों की शक्तिरूपा भी वही है।

सत्त्वादि गुणत्रय विभाविनी मूल प्रकृति, वही कालरात्रि, मरणरात्रि या शिवरात्रिरूपा है और वही महारात्रि अर्थात् प्रलयरात्रि भी है, मोहरात्रि भी भगवती है। कृष्णजन्माष्टमी को अवतीर्ण होकर भगवती ही कंसादि को मोहित करके कृष्ण को नन्दगृह पहुँचाने में सहायक हुई है। वही श्री, वही ईश्वरी, वही लज्जा, वही बोधलक्षणा बुद्धि है। पुष्टि, तुष्टि, शान्ति, क्षान्ति भी वही है। खड्ग, शूल, गदा, चक्र, शङ्ख, चाप, बाण, भुशुण्डी, परिघ आदि आयुधों को धरण करने वाली महाघोरा है, वही परमप्रशान्तरूपा भी है, वही सौम्यतरा एवं अशेष सौम्यों से भी अति सुन्दरी है अथवा भक्तों के लिए सौम्या और दैत्यों के लिए अत्यन्त असौम्या अर्थात् क्रूरतरा है। सब आह्लादहेतुओं से अत्यन्त सुन्दरी है, ब्रह्मादि सम्पूर्ण देवताओं से वही परमोत्कृष्टा है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी के मध्य परावाक्स्वरूपा वही है। वस्तुतस्तु संसार में सत्-असत्, कार्य-कारण, चेतन-अचेतन, जहाँ भी, जो भी कोई वस्तु है, उन सबकी जो शक्ति है, वह भगवती ही है—

यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्ति :सा त्वं किं स्तूयसे तदा।। —*दुर्गासप्तशती १.८२-८३*

जो परमेश्वर महाशक्ति द्वारा ही जगत् का उत्पादन, पालन, संहारण करता है, जब स्वयं वही भगवती की योगनिद्रा के वश होते हैं, तब फिर कौन भगवती के गुणों का वर्णन कर सकता है? विष्णु आदि भी शक्ति की महिमा से ही देहवान् होते हैं। अनन्तानन्तशक्तियों से सम्पन्न आनन्दप्रधाना भगवती महाकाली रूप से 'सप्तशती' के प्रथम चरित्र में वर्णित है।

मध्यम चरित्र

किसी समय वही महालक्ष्मी के रूप में प्रकट होती है। कभी पूरे सौ वर्ष तक देवताओं और असुरों का भयानक संग्राम चल रहा था। असुरों का राजा महिषासुर और देवताओं का इन्द्र था। महिषासुर सब देवताओं को जीतकर स्वयं इन्द्र हो गया। देवता लोग पराजित होकर ब्रह्मा को लेकर शिव और विष्णु के पास गये और विस्तार से महिषासुर की विजय और देवताओं की पराजय बतलायी। देवताओं की बात सुनकर मधुसूदन और शङ्कर दोनों ने कोप किया और उनके मुख से एक महातेज प्रकट हुआ। ब्रह्मा के भी मुख से वैसा ही तेज निकला। इन्द्र, वरुणादि देवताओं के भी देह से दिव्य तेज प्रकट हुआ। इस तरह सब देवताओं के देह से निकलकर वही महातेज पर्वत के समान दिखलायी पड़ने लगा और उसकी ज्वाला से दिशाएँ-विदिशाएँ सब व्याप्त हो गयीं। वही अतुल तेज एकत्रित होकर एक स्त्री के रूप में परिणत हो गया। उस तेज की दिव्यदीप्ति तीनों लोक में फैल गयी। समस्त देवताओं के तेज से उस तेज के अन्यान्य अङ्ग उत्पन्न हुए। समस्त देवताओं की तेजोराशि से अद्भुत भगवती को देखकर प्रसन्न हुए। सब देवों ने विभिन्न आयुध तथा आभूषण उसे

प्रदान किया। सबने माता का सम्मान किया। माँ प्रसन्न होकर सिंहनाद करने लगी। उसके घोर नाद से सम्पूर्ण नभ पूर्ण हो गया और उसकी प्रतिध्वनि से सब लोक क्षुब्ध हो गये और समुद्र काँप उठे। देवता प्रसन्नता से जयजयरव करने लगे, मुनि लोग स्तुति करने लगे।

ऐसी स्थिति देखकर असुर लोग अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्ध के लिये तत्पर हो गये। अनेक असुरों से समावृत महिषासुर ने देखा कि तीनों लोकों को अपने महातेज से व्याप्त करके पादाक्रमण से पृथ्वी को विनत करती हुई, अपने किरीट से नभोमण्डल को खचित करती हुई, धनुष के टङ्कार से पाताल तक को क्षुब्ध करने वाली सहस्रों भुजाओं से दिशाओं को व्याप्त करके देवी स्थित है। बस फिर क्या था? असुरों ने युद्ध प्रारम्भ कर दिया। भयानक संग्राम हुआ, गिरे हुए हस्ति, अश्व, रथ एवं असुर से वह भूमि अगम्य हो गयी। शोणित की भयानक नदी बहने लगी। अन्त में बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्र, शक्ति आदि के प्रयोग हुए। बहुतों को अस्त्र से, बहुतों को हुङ्कारमात्र से भगवती नष्ट कर देती थी। देवी के सिंह ने विचित्र युद्ध करके चामर प्रभृति दैत्यों को मारा। बहुत दैत्यों के मारे जाने पर स्वयं महिषासुर ने महिषरूप से अद्भुत पराक्रम दिखलाया। चण्डिका ने उसे पाश से बाँधा, तो वह सिंह हो गया। जब तक सिंह का सिर काटने का चण्डिका प्रयत्न करती है, तब तक वह खड्गपाणि पुरुष हो गया। जब तक पुरुष पर अम्बा प्रहार करती, तब तक वह गज हो गया। गज होकर सिंह को शुण्डा से आकृष्ट करने लगा। देवी ने तलवार से शुण्डा काट दी। पश्चात् वह फिर महिष बनकर त्रैलोक्य को त्रस्त करने लगा। अन्त में देवी ने उछलकर उसके ऊपर आरूढ़ होकर उसे चरण से आक्रान्त कर शूल से ताड़न किया। इतने में वह महिष के मुख से अर्धनिष्क्रान्त असुर के रूप में लड़ने लगा। अन्त में अम्बा ने विशाल खड्ग से उसका सिर काट दिया। असुरसैन्य में हाहाकार मच गया। देवतागण बड़े प्रसन्न हुए। देवताओं ने वहीं श्रद्धा से नम्र होकर इस तरह स्तुति की— "हे माँ! आप जगदात्म शक्ति हैं, आपसे सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है, आप सब देवताओं की शक्तिसमूह मूर्ति हैं। आपके प्रभाव को विष्णु, ब्रह्मा तथा हर भी नहीं कह सकते, फिर और की तो बात ही क्या? आप ही सुकृतियों के घरों में लक्ष्मी तथा पापियों के घर में दरिद्रा रूप से रहती हैं। कृतबुद्धियों के हृदय में सुबुद्धि एवं कुलाङ्गनाओं की लज्जा भी आप ही हैं, आप ही अव्याकृताख्या प्रकृति हैं, आप ही स्वाहा, स्वधारूप से देव, पितर आदि को तृप्त करती हैं। मोक्षार्थी यति लोग भी ब्रह्मविद्यारूप से आपका ही सेवन करते हैं। विश्व को अभ्युदय-नि:श्रेयस प्राप्त कराने के लिये आप ही वेदत्रयी के रूप में प्रकट होती हैं। विष्णु के हृदय में महालक्ष्मी रूप से, शशिमौलि के यहाँ गौरीरूप से आप ही प्रतिष्ठित हैं।" बहुत स्तुति करके देवताओं ने देवी से अनेक वर की प्रार्थना की। माता 'तथास्तु' कहकर अन्तर्हित हो गयी।

उत्तर चरित्र

इसी तरह जब शुम्भ और निशुम्भ ने पराक्रम से इन्द्र से त्रैलोक्य छीन लिया; यज्ञ भाग भी स्वयं लेना प्रारम्भ कर दिया; सूर्य, चन्द्र तथा कुबेर, वरुण का पद स्वयं ले लिया, तब सब देवता पराजित और भ्रष्टराज्य होकर अपराजिता भगवती का स्मरण करने लगे। माता ने वरदान दिया कि आपत्ति में जब भी आप लोग हमारा स्मरण करेंगे, मैं तत्क्षण आप सबकी आपत्तियों को दूर करूँगी, यह सोचकर सब देव हिमाचल

पर जाकर विष्णुमाया की स्तुति करने लगे। वहाँ उन्होंने देवी, महादेवी, शिवा, प्रकृति, भद्रा, रौद्रा, नित्या, गौरी, धात्री, ज्योत्स्ना, इन्दुरूपिणी, सुखा, कल्याणी, वृद्धि, सिद्धि, नैर्ऋति, शर्वाणी, दुर्गा, दुर्गपारा, सारा, सर्वकारिणी, ख्याति, कृष्णा, धूम्रा, अतिसौम्या, अतिरौद्रा, जगत्प्रतिष्ठा, कृति, विष्णुमाया, चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, शक्ति, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, माता, भ्रान्ति, व्याप्ति, चितिरूप से भगवती को प्रणाम किया। निर्गुणा, सगुणा तथा सगुणा में भी सात्त्विकी, राजसी, तामसी भेद से सब शक्तियाँ भगवती में ही अन्तर्भूत हो जाती है। देवता स्तुति कर रहे थे कि हिमाद्रि-कन्या पार्वती जाह्नवी में स्नान करने आयीं। देवताओं से उन्होंने प्रश्न किया कि **'आप किस देवता की स्तुति कर रहे हैं?'** देवताओं का उत्तर देना ही था कि तब तक पार्वती के ही शरीर से प्रकट होकर शिवा भगवती ने पार्वती से कहा कि **'शुम्भ से निराकृत होकर ये सब हमारी ही स्तुति कर रहे हैं।'** पार्वती के शरीर-कोश से निकली हुई अम्बिका लोक में 'कौशिकी' नाम से प्रसिद्ध हुईं। कौशिकी के निकलने पर पार्वती कृष्णवर्ण की हो गयीं। तभी से वह **'कालिका'** कहलाने लगीं। परमरूपवती कौशिकी अम्बिका को कभी शुम्भ-निशुम्भ के सेवक चण्ड-मुण्ड ने देखा और जाकर अपने स्वामी से उसके रूप की प्रशंसा की और उसे स्वाधीन बनाने की सलाह दी। शुम्भ-निशुम्भ ने दूत भेजकर कहलाया कि **"हमारी आज्ञा सर्वत्र अप्रतिहत है, संसार के सब रत्न, ऐरावत, उच्चैःश्रवा आदि हमारे पास हैं, तुम भी स्त्रीरत्न हो, हम रत्नभुक् हैं, अतः तुम भी हमारे पास आओ, हमारे पास आने से तुम्हें परमैश्वर्य्य प्राप्त होगा।"**

भगवती ने गम्भीर स्मित के साथ कहा—

"ठीक है, परन्तु मेरी प्रतिज्ञा है कि जो मुझे संग्राम में जीत लेगा, मेरा दर्प दूर करेगा, मेरे समान बलवान् होगा, वही मेरा भर्ता होगा। अतः शुम्भ या निशुम्भ कोई भी आकर मुझे जीतकर पाणिग्रहण कर ले"—

यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्त्ता भविष्यति।। —*दुर्गासप्तशती ५.१२०*

तदागच्छतु शुम्भोऽत्र निशुम्भो वा महासुरः।
मां जित्वा किं चिरेणात्र पाणिं गृह्णातु मे लघु।। —*दुर्गासप्तशती ५.१२१*

दूत ने बहुत कुछ समझाया, परन्तु देवी ने कहा—"क्या करूँ, मेरी ऐसी ही प्रतिज्ञा ही है।" दूत ने जाकर सब बात सुना दी। इस पर धूम्रलोचन भेजा गया, घोर युद्ध के बाद वह मारा गया। उसके पश्चात् शुम्भ ने चण्ड-मुण्ड को भेजा। महासंग्राम हुआ, अम्बिका ने जब कोप किया, तब उसके ललाट से करालबदना कालिका प्रकट हुई। उसने असुरों के बल (सैन्य) को भक्षण करना आरम्भ कर दिया। उसने बड़े-बड़े गज, तुरङ्ग, रथ, योद्धाओं को मुँह में डालकर चबाना आरम्भ किया। सर्वनाश होते देखकर चण्ड आया और अनेक चक्रों से काली को आच्छादित कर दिया। देवी के मुँह में वे चक्र लीन हो गये। महातलवार से देवी ने चण्ड का सिर काट डाला। इसके बाद मुण्ड लड़ने आया। उसकी भी वही गति हुई। चण्ड-मुण्ड दोनों का सिर लेकर काली ने आकर कौशिकी को दिया। कौशिकी ने चण्ड-मुण्ड का सिर लाने के कारण काली को

'चामुण्डा' नामकरण किया। चण्ड-मुण्ड का वध सुनकर शुम्भ ने अपनी सब सेना को आज्ञा दी। महामहाकुल के भयानक-भयानक दैत्य आये, भयंकर युद्ध होने लगा। देवी ने धनुष की टङ्कार से धरणी और गगन को पूरित कर दिया। सिंहनाद भी सर्वत्र फैल गया, महाकाली ने भी मुख फैलाकर भीषण नाद किया। उस नाद को सुनकर दैत्यसेना ने चारों ओर से देवी को घेर लिया। इसी समय दैत्यों के नाश और देवताओं के अभ्युदय के लिए ब्रह्मा, शिव, विष्णु, इन्द्र आदि देवताओं के शरीरों से उनकी शक्तियाँ उसी-उसी रूप में प्रकट होकर देवी की सहायता के लिये आयीं। उन शक्तियों से परिवृत्त होकर भगवान् रुद्र आये और चण्डिका से कहा कि '**हमारी प्रसन्नता के लिए शीघ्र ही इन दैत्यों को मारो।**' यह सुनते ही देवी के शरीर से एक अतिभीषण शक्ति प्रकट हुई और उसने रुद्र से कहा—

'**आप हमारे दूत बनकर जाओ और शुम्भ-निशुम्भ से कहो कि त्रैलोक्य इन्द्र को दे दो, देवता हविभुक् हों और तुम लोग यदि जीना चाहते हो, तो पाताल चले जाओ। यदि बल के घमण्ड से लड़ना हो, तो आओ, तुम्हारे मांस से हमारे शृगाल तृप्त हों।**" देवी ने शिव को दूत बनाया, अत: उसका नाम '**शिवदूती**' प्रसिद्ध हुआ। दैत्य शिव के द्वारा देवी का सन्देश सुनकर क्रुद्ध होकर वहाँ आये, जहाँ देवी स्थित थी और अस्त्र-शस्त्र से देवी के ऊपर खूब प्रहार किया। देवी ने लीलामात्र से सबको नष्ट कर डाला। कौशिकी के आगे-आगे काली शूल और खट्वाङ्ग से शत्रुओं को नष्ट करती चलती थी। ब्रह्माणी, माहेश्वरी, वैष्णवी, कौमारी, ऐन्द्री, वाराही आदि अपने शस्त्रास्त्रों से सहस्रों दैत्यों को मारती थीं। असुरों का संहार करती हुई नाद से दिशाओं को पूर्ण कर रही थी। जब मातृगणों से पीड़ित होकर असुर भाग चले, तब रक्तबीज नाम का एक महान् असुर आया। रक्तबीज के शरीर से जितने बिन्दु रक्त भूमि पर गिरते थे, उतनी ही संख्या में वैसे ही रक्तबीज उत्पन्न होते थे। वह रक्तबीज गदा लेकर इन्द्रशक्ति से युद्ध करने लगा। उससे महा भयंकर संग्राम हुआ। असंख्य रक्तबीज से संसार व्याप्त हो गया। देवी ने अपनी जिह्वा भूमि पर फैला दी और सब रक्तपान करने लगी। अन्त में वह दैत्य क्षीणरक्त होकर मर गया।

फिर शुम्भ-निशुम्भ का भी देवी से घोर युद्ध हुआ। महायुद्ध के बाद निशुम्भ मारा गया। उस समय शुम्भ ने आकर देवी से डाँटकर कहा—

'हे दुर्गे! तू घमण्ड न कर, दूसरों का बल लेकर तू लड़ती।'

इस पर देवी ने कहा—

'इस जगत में मैं ही एक हूँ, दूसरा कोई नहीं। देख, ये सब मेरी विभूति हैं, मुझमें प्रविष्ट हो रही हैं।'

यह कहते ही ब्रह्माणी प्रमुखा देवी उसमें लीन हो गयीं, वह अकेली रह गयी—

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः।।

ततः समस्तास्ता देव्यो ब्रह्माणी प्रमुख लयम्।
तस्या देव्यास्तनौ जग्मुरेकैवासीत्तदाम्बिका।। —*दुर्गासप्तशती १०.५-६*

देवी ने कहा—**'मैं ही अपनी विभूति से अनेक रूपों में स्थित थी। अब उन सबका उपसंहार करके अकेली ही संग्राम में स्थित हूँ। तू सावधान स्थिर हो।'**

अनन्तर देवी और शुम्भ का देवताओं के समक्ष महाघोर युद्ध हुआ। बड़े-बड़े दिव्यातिदिव्य शस्त्रास्त्रों का प्रयोग हुआ। कभी गगन में, कभी भू पर महान् आश्चर्यकर युद्ध हुआ। उस महासंग्राम के बाद भगवती ने उसके हृदय को विशाल शूल से विदीर्ण कर भूमि पर मार गिराया। देवता तथा ऋषियों ने देवी की इस प्रकार स्तुति की।

देवताओं ने कहा—'हे मातः! आप प्रपन्न प्राणियों को अर्त्ति दूर करने वाली हैं, आप अखिल ब्रह्माण्ड की माता हैं, आप ही चराचर विश्व की ईश्वरी हैं, आप ही पृथ्वीरूप में स्थित होकर सबकी आधारभूत हैं, जलरूप से भी स्थित होकर सम्पूर्ण विश्व का आप्यायन करती हैं, आप अनन्त वीर्य्यवाली वैष्णवी शक्ति हैं, आप ही विश्व की बीजभूता माया हैं, सम्पूर्ण विश्व आपसे ही मोहित है, प्रसन्न होकर आप ही मुक्ति की हेतु बन जाती हैं, संसार की समस्त विद्याएँ आपके ही अंश हैं, समस्त स्त्रियाँ भी आपके ही अंश हैं, एक आपसे ही सारा विश्व पूरित है, फिर आपकी क्या स्तुति की जाय? स्तुति साधन परा, अपरा वाक् भी तो आप ही हैं, स्पष्टोच्चरित वाक् 'वैखरी' है, स्मृतिगोचर वाक् 'मध्यमा' है, अर्थ की द्योतिका 'पश्यन्ती' है, ब्रह्म ही 'परा' वाक् है—

वैखरी शब्द-निष्पत्तिर्मध्यमा स्मृतिगोचरा।
द्योतिकार्थस्य पश्यन्ती सूक्ष्मा ब्रह्मैव केवलम्।।

स्थान, करण, प्रयत्न तथा वर्णविभागशून्य, स्वयंप्रकाश ज्योति **'परा'** वाक् है। सूक्ष्म बीज से उत्पन्न अङ्कुर के समान किञ्चित् विकसित शक्ति ही **'पश्यन्ती'** है। अन्तःसङ्कल्परूपा वाक् **'मध्यमा'** है, व्यक्त वर्णादिरूप **'वैखरी'** है। "स्वर्ग-मुक्तिदायिनी आप ही हैं। बुद्धिरूप से पुरुषार्थप्रदा, कालरूप से परिणामप्रदायिनी, अवसान समय में कालरात्रिरूप से आप ही विराजती हैं। सर्वमङ्गलदायी, सर्वार्थसाधिका, शरणागत-वत्सला, सृष्ट्यादिकारिणी, सनातनी, गुणाश्रया, गुणमया, शरणागत-दीनार्त-परित्राण-परायणा, आर्त्तिहरा, ब्रह्माणी, माहेश्वरी, महाविद्या, मेधा, ध्रुवा, सरस्वती, वरा, भूति, वाभ्रवि (राजसी), तामसी, नियन्ता आप ही हैं। कहाँ तक कहा जाय, आप ही सर्वस्वरूपा हैं, आप ही सर्वशक्तिसमन्विता हैं। आप और आपके आयुध हमें सब भीति से बचायें। आप सर्वानर्थनिवारिणी, सर्वाभीष्टदायिनी हैं, सर्वस्तुत्या हैं। आपके आश्रितों को विपत्ति नहीं आती, आपके आश्रित दूसरों के आश्रय होते हैं। आप विश्वेश्वरी, विश्वपालिनी एवं विश्वरूपा हैं, विश्वेशवन्द्या हैं। जो आपको प्रणाम करते हैं, वे विश्व के आश्रय बनते हैं।" देवी ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा। देवताओं ने यह वर माँगा कि "अखिलेश्वरी! आप सर्वदा त्रैलोक्य की सर्वबाधाओं का प्रशमन करें और समय-समय पर इसी तरह असुरों का संहार करें।" देवी ने कहा—"यह शुम्भ-निशुम्भ आदि दैत्य फिर अट्ठाईसवीं चतुर्युगी में उत्पन्न होंगे, वहाँ भी नन्दगोप के गृह में यशोदा से उत्पन्न हो विन्ध्यवासिनीरूप में मैं उनका संहार करूँगी। उसी रूप से वैप्रचित्त दानवों को मारकर उनका भक्षण

करूँगी। दन्तों के रक्त होने से उस समय मेरा **रक्तदन्तिका** नाम प्रसिद्ध होगा। पुनश्च शतवार्षिकी अनावृष्टि होने पर **'शताक्षी'** रूप से प्रकट होकर मुनियों पर अनुग्रह करूँगी। अपने देह से उद्‌भूत प्राणधारक शाकों द्वारा लोक का रक्षण करूँगी। इसीलिये मेरा **'शाकम्भरी'** नाम होगा। उसी अवतार में दुर्गम दैत्य को मारने से मेरा **'दुर्गा'** भी नाम पड़ेगा। भीमरूप धारण करके हिमाचल के राक्षसों को भक्षण करूँगी, तब मेरा **'भीमा'** नाम पड़ेगा। भ्रमररूप धारण कर अरुणासुर को मारने से मेरा **'भ्रामरी'** नाम होगा। इस तरह जब-जब दानवों की बाधा फैलेगी, तब-तब मैं अवतार लेकर धर्म और देवताओं के शत्रुओं का क्षय करूँगी। जो इन स्तुतियों से मेरा स्तवन और श्रद्धा-भक्ति से पूजन करेगा, उसकी सब विपत्तियों को दूर कर सर्वाभीष्ट सम्पादन करूँगी।"

'सप्तशती' के चरित्रों से विविध शिक्षाएँ मिलती हैं। मधु-कैटभ बड़े बलवान् थे, परन्तु बुद्धि-बल से विष्णु ने उनका वध किया, इससे यह स्पष्ट हो गया कि पशु-बल पर सर्वदा बौद्ध-बल की विजय होती है। महिषासुर के वध में देवताओं के सङ्घ से उद्‌भूत तेज समूह से भगवती का आविर्भाव हुआ। तृतीय चरित्र से यह भी व्यक्त होता है कि एक शक्ति अग्रसर होने पर सभी शक्तियाँ उस कार्य में लग जाती हैं, इत्यादि-इत्यादि बहुत-सी दिशाएँ प्राप्त होती हैं।

देवीसूक्त में भगवती का स्वरूप

'*देवीसूक्त*' से विदित होता है कि साक्षात् परब्रह्म ही देवी आदि नामों से प्रख्यात है।

स्वयं देवी कहती है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुतविश्वदेवैः।।१।।

अर्थात् मैं ही रुद्र, वसु, आदित्यादि रूप से विहरण करती हूँ। इन्द्र, अग्नि एवं अश्विनीकुमारों को मैं ही धारण करती हूँ। सोम, त्वष्टा, पूषा, भग आदि को भी मैं ही धारण करती हूँ। देवताओं को हविः प्रदान करने वाले यजमान को फल-प्रदान भी मैं ही करती हूँ।

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधु :पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।।३।।

अर्थात् सब जगत् की ईश्वरी, धन प्राप्त कराने वाली, तत्त्वज्ञानिनी एवं यज्ञार्हों में मैं ही मुख्य हूँ, मैं ही प्रपञ्चरूप से स्थित हूँ। अतएव, देवताओं ने अनेक स्थानों में अनेक रूप से मेरा ही विधान किया है, विश्वरूप से मैं ही स्थित हूँ। जहाँ भी, जो भी किया जाता है, सब मेरी ही तत्र-तत्र, तेन-तेन रूपेण सम्मति है। खाना, देखना, प्राणन करना, श्वासोच्छ्वासादि व्यापार करना सब मेरी ही शक्ति से सम्भव है। जो मुझ अन्तर्य्यामिणी को नहीं जानते, वे उपक्षीण हो जाते हैं। हे विश्रुत! श्रद्धायुक्त होकर सुनो, यह ब्रह्मवस्तु तुम्हें बतला रही हूँ—

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि।।४।।

मैं ही देव-मनुष्यसेवित ब्रह्म का उपदेश करती हूँ। मैं ही जिसको चाहती हूँ, उग्र—अधिक—बनाती हूँ। ब्रह्मा (स्रष्टा), ऋषि (ज्ञानवान्) तथा शोभनप्रज्ञ बनाती हूँ। त्रिपुर विजय के समय हिंसक, ब्रह्मद्विट् असुर के लिए रुद्र के धनुष को मैं ही विस्तृत करती हूँ, स्तोता जनों के सुखार्थ मैं ही शत्रुओं से संग्राम करती हूँ, मैं ही परमात्मा के सर्वोपरि स्वरूप में आकाश को बनाती हूँ। जैसे तन्तु में पट होता है, वैसे ही आकाशादि कार्य्य जगत् परमात्मा ही से उत्पन्न होता है। समुद्र (**समुद्रवन्ति प्राणिनोऽस्मादिति समुद्रः परमात्मा**) परमात्मा में जो व्याप्त बुद्धिवृत्तिरूप आप् हैं, उनके भीतर, बाहर, मध्य में फैला हुआ जो अनन्त चैतन्य है, वही मुझ भगवती का विश्वकारणभूत रूप है। अतएव मैं समस्त प्राणियों में व्याप्त होकर स्थित हूँ। कारणभूत मायामय निज देह से द्युलोकादि को स्पर्श कर मैं स्थित हूँ। अथवा भूलोक के ऊपर पितर अर्थात् आकाश की मैं रचना करती हूँ।

समुद्र में जल के भीतर मेरे कारणभूत अम्मय ऋषि हैं, उन्हीं महर्षि को पुत्री होकर मैं देवीसूक्त का दर्शन करती हूँ। अथवा समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष में अपने अर्थात् अम्मय देवशरीरों में मेरा कारणभूत ब्रह्म चैतन्य रहता है, अतः मैं कारणभूत होकर सर्वत्र व्याप्त हूँ। मैं ही सम्पूर्ण भूतों और सभी कार्यों का आरम्भ करती हूँ। जैसे वात बिना अन्य प्रेरणा के ही स्वयं कार्य्य करता है, वैसे ही परशक्तिरूपा मैं स्वेच्छा से ही सब काम करती हूँ। आकाश और पृथ्वी से पर मैं हूँ। असङ्ग, उदासीन ब्रह्मचैतन्यरूपा मैं हूँ।

भगवती की विविध विभूतियाँ

सर्वप्रपञ्च एवं अवतारों की मूलभूता प्रथमा महालक्ष्मी है। तीनों गुणों की साम्यावस्थारूपा त्रिगुणा वही भगवती परमेश्वरी है। वह लक्ष्य-अलक्ष्य दो रूप की है। मायारूप लक्ष्य है, ब्रह्मरूप अलक्ष्य है। मायाशबल ब्रह्मरूपा भगवती ही त्रिगुणा परमेश्वरी है। जैसे घटादि कार्य्य में कारणभूत-मृत्तिका व्याप्त है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्व में वह व्याप्त है। हर एक पदार्थ में अस्ति, भाति, प्रिय यह तीन ब्रह्म के और नाम, रूप यह दो माया के रूप हैं। उपर्युक्त सूक्ष्मरूप के अतिरिक्त उपासकों के अनुग्रहार्थ भगवती के अवतारस्वरूप स्थूलरूप भी प्रकट होते हैं। दक्षिण भाग के नीचे के हाथ में पान-पात्र, ऊपर के हाथ में गदा, वामभाग के ऊपर के हाथ में खेटक, नीचे के हाथ में श्रीफल तथा नाग, लिङ्ग एवं योनि को सिर में धारण किये हुए, तप्त काञ्चन के समान दिव्य वर्णवाली, तप्त ज्ञानशक्ति खेटक है, तूर्यावृत्ति (समाधि) पानपात्र है, लिङ्ग पुरुषतत्त्व है, योनि प्रकृति तत्त्व है, नाग काल है। मातुलिङ्ग (फल) ग्रहण से भगवती यह सूचित करती है कि मैं ही सर्वकर्म फलदात्री हूँ। गदा धारण से क्रियास्वरूप विक्षेपशक्ति और खेट धारण से ज्ञान-शक्ति का अधिष्ठात्रित्व ही बोधित किया गया है। नाग, लिङ्ग, योनिधारण से यह सूचित किया गया है कि प्रकृति, पुरुष और काल तीनों का अधिष्ठान परब्रह्मरूपा मैं ही हूँ। 'ह्रीं' बीज का अभिप्राय भी यही है। यही भुवनेश्वरी है। सूक्तरूप भुवनेश्वरी और महालक्ष्मी दोनों एक ही है। तथापि पाश, अङ्कुश, अभय, वरादि आयुध धारण में भेद हैं।

भगवती और सृष्टि

प्राणियों के परिपक्व कर्मों का भोग द्वारा क्षय हो जाने पर प्रलय होता है। उस समय सब प्रपञ्च माया के ही उदर में लीन रहता है। माया भी स्वप्रतिष्ठ निर्गुण ब्रह्म में लीन रहती है। **'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निर्गुणे सम्प्रलीयते।'** विष्णुपुराण के इन वचनों से अव्यक्त का भी ब्रह्म में लय स्मृत है। अव्यक्त का माया ही अर्थ है, प्राणियों के कर्म-फल भोग का जब समय आता है, तब चिदात्मिका भगवती में सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा) उत्पन्न होती है। माया की उसी अवस्था को विचिकीर्षा आदि शब्दों से कहा जाता है। कर्म परिपाक का विनश्यद् अवस्थावाला प्रागभाव ही विचिकीर्षा है। यद्यपि गुणसाम्य दशा में कर्म परिपाकादि के अनुकूल कोई भी व्यापार नहीं होते, अत: साम्यावस्था भङ्ग का क्या कारण है यह जानना बहुत कठिन है, तथापि जैसे निद्रा के अव्यवहित प्राक्काल के प्रबोधानुकूल दृढ़ सङ्कल्प की महिमा से ही नियत समय पर निद्रा भङ्ग होती है, वैसे ही प्रलय के अव्यवहित प्राक्कालिक ईश्वरीय सङ्कल्प से ही नियत समय पर जाता है। विभाग को न प्राप्त हुआ यह बिन्दु ही 'अव्यक्त' कहलाता है।

यह माया की ही अवस्था है, अत: यह मायापदवाच्य होता है। यद्यपि यह महदादि के समान तत्त्वान्तर रूप से उत्पन्न नहीं होता, अतएव, माया ही है, तथापि माया की एक विशिष्टाकार से उत्पत्ति हुई है, अत: **'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिविधं द्विजसत्तमम्'** इत्यादि वचनों से उसकी उत्पत्ति भी कही गयी है। केवल ब्रह्म में कारणता नहीं बन सकती, अतएव उसे भी सूक्ष्मावस्था विशिष्ट माया से मुक्त ब्रह्म में ही कारणता समझना चाहिये। बीज और अङ्कुर के बीच की उच्छूनावस्था को ही, जिसमें बीज, धरणि, अनिल, जल के सम्पर्क से क्लिन्न होकर कुछ फूलता है, अव्यक्तावस्था समझनी चाहिये। गुणसाम्य बीजावस्था है, वही शुद्ध माया है। बीज का अङ्कुरित होना कार्य्यावस्था है। स्पष्ट ईक्षण और अहंकार आदि ही महत्तत्व, अहन्तत्त्व आदि है। व्यष्टि जगत् में समझ सकते हैं कि निद्रावस्था बीजावस्था है, निद्रा का प्रबोधोन्मुख होना अव्यक्तावस्था है, विकल्पविशेषविरहित प्रबोध महत्तत्व की अवस्था है, अहंकार का उल्लेख होना ही अहंतत्त्व की अवस्था है, तदनन्तर स्थूल कार्यादि सम्पत्ति होती है। अन्तर्मुख अव्यक्त की 'तुरीय' संज्ञा है, बहिर्मुख अव्यक्त की 'कारण देह' संज्ञा है। बहिर्मुख अव्यक्त से सूक्ष्म-स्थूल देह की उत्पत्ति होती है, इसीमें सम्पूर्ण विश्व आ जाता है। समष्टि-व्यष्टि स्थूल देह और ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरण के अधिपति सरस्वती सहित ब्रह्मा है। क्रियाशक्त्यात्मक लिङ्गदेह के अधिपति लक्ष्मीसहित विष्णु हैं। कारणदेह के अधिपति गौरीसहित रुद्र हैं। तुरीयदेह की अभिमानिनी भुवनेश्वरी और महालक्ष्मी हैं।

मूर्त्तिरहस्य

प्रथम महालक्ष्मी भगवती ने सम्पूर्ण जगत् को अधिष्ठाता से रहित देखकर केवल तमोगुण रूप उपाधि का आश्रय लेकर बड़ा सुन्दर एक दूसरा धारण किया। साम्यावस्थाभिमानिनी महालक्ष्मी हैं। किञ्चिच्चालित सदृश तमोगुणविशिष्ट अव्यक्त में अभिमान करके उसीने महाकालीरूप धारण कर लिया। यद्यपि वह मूल देवी से अभिन्न ही है, तथापि रूप में भेद है। कज्जल के समान नीलवर्णवाली, सुन्दर दंष्ट्रा से युक्त मनोहर

आननवाली, विशाल लोचन, सूक्ष्म कटिवाली वह देवी खड्ग, पात्र, शिरः, खेट को धारण किये कबन्ध, हार और मुण्ड को माला अथवा शव शिरों की माला पहने थीं। उस महाकाली ने महालक्ष्मी से कहा कि—

'मेरे लिए नाम और कर्म बतलाओ।'

महालक्ष्मी ने ब्रह्मादिमोहिका होने से **'महामाया'**, उन सबका संख्यान और संहार करने से **'महाकाली'** और सर्वविध भक्षण की इच्छावाली होने से **'क्षुधा'** सभी विद्या-पान की इच्छावाली होने से तृष्णा, योग की अधिष्ठात्री होने से **'योगनिद्रा'**, भक्तकृत भक्ति की इच्छावाली होने से **'तृष्णा'**, महापराक्रमवती होने से **'एक वीरा'** इत्यादि नाम और नामानुरूप ही कर्म बतलाये गये हैं। अनन्तर महालक्ष्मी ने अतिशुद्ध सत्त्व के द्वारा चन्द्रप्रभा के समान अतिसुन्दर और रूप धारण किया। अक्षमाला, अङ्कुश, वीणा, पुस्तक धारण किये हुए वह बड़ी सुन्दरी देवी प्रकट हुई। उसके लिये भी महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, आर्य्या, ब्राह्मी, कामधेनु, बीजगर्भा, धनेश्वरी नाम और नामानुरूप ही कर्म बतलाये गये हैं। महालक्ष्मी स्वयं ही साम्यावस्था की अभिमानिनी होते हुए रजोगुण की भी अभिमानिनी हुई, अतएव महालक्ष्मी का रक्त-रूप वर्णन मिलता है। अन्त में महालक्ष्मी ने महाकाली और महासरस्वती से कहा कि—

"आप दोनों अपने अनुरूप स्त्री-पुरुषरूप मिथुन उत्पन्न करो।"

ऐसा कहकर स्वयं महालक्ष्मी ने निर्मल ज्ञानमय कमल पर विराजमान एक स्त्री, एक पुरुष का मिथुन बनाया। ब्रह्मा, धाता आदि पुरुष के नाम, श्री, पद्मा, कमला, लक्ष्मी आदि स्त्री के नाम हुए। महाकाली ने भी एक मिथुन बनाया, उसमें नीलकण्ठ, रक्तबाहु, श्वेताङ्ग, चन्द्रशेखर पुरुष हुआ और शुक्लवर्ण की ही सुन्दरी स्त्री हुई। पुरुष के रुद्र, शङ्कर, स्थाणु, कपर्दी, त्रिलोचन नाम हुए, स्त्री के त्रयी, विद्या, कामधेनु, भाषा, अक्षरा, स्वरा आदि नाम हुए। सरस्वती से भी उत्पन्न मिथुन में विष्णु, हृषीकेश, वासुदेव, जनार्दन पुरुष के और उमा, गौरी, सती, चण्डी, सुन्दरी, सुभगा, शिव स्त्री के नाम हुए। इस तरह बिना पुरुष के ही युवतियाँ ही पुरुष बन गयीं।

साधारण लोग इसे असम्भव समझते हैं, परन्तु अचिन्त्य मायाशक्ति की महिमा जानने वालों के लिए यह असम्भव नहीं। महालक्ष्मी ने ब्रह्मा का सरस्वती से, रुद्र का गौरी से, वासुदेव का लक्ष्मी से विवाह कर दिया। ब्रह्मा ने सरस्वती के साथ ब्रह्माण्ड बनाया, रुद्र ने गौरी के साथ संहार का काम किया और विष्णु ने लक्ष्मी के साथ पालन किया। ब्रह्म दृष्टि से चैतन्यरूपा सरस्वती, सत्तारूपा लक्ष्मी, आनन्दरूपा काली हैं, अतः चैतन्य का अभिव्यञ्जक सत्त्व, सत्ताव्यञ्जक रज और आनन्दव्यञ्जक तम है। सुषुप्ति में तम की बहुलता से आनन्दमय की व्यक्ति होती है। आनन्दभोक्ता सत्त्व का पर्यवसान तमोरूप निद्रा में होता है, इसलिये रुद्र में तम का व्यवहार होता है। सत्ताव्यञ्जक रज का पर्यवसान सत्त्वात्मक ज्ञान में होता है, इसलिये विष्णु को सत्त्व कहा है। चैतन्यव्यञ्जक रज अपने रूप में रहता है, इसलिये ब्रह्मा में कहा जाता है। इतिहास की दृष्टि से पहले उत्पत्ति, फिर स्थिति, फिर संहार होता है। साधना में संहार, पालन और उत्पादन यह क्रम मान्य होता है। स्थितिकाल में भी उन्नति के लिए तीनों शक्तियों की अपेक्षा है। दोषों का संहार, रक्षणीय गुणों का पालन और फिर

अविद्यमान गुणादिकों का उत्पादन अभीष्ट होता है। रोगों का नाश, प्राणों का रक्षण और बल का उत्पादन यह शिव, विष्णु एवं ब्रह्मा का काम है। वैसे यह सब-के-सब विशुद्ध सत्त्वमय है, इसलिये शैवपुराणों में शिव को भी सत्त्वमय कहा गया है। शैव, वैष्णव, शाक्त सबके यहाँ अपने इष्टदेव को ही मूलतत्त्व माना जाता है। मूलतत्त्व में ही पूर्ण सर्वज्ञता आदि की विवक्षा से सत्त्वमय कहा जाता है। गुणकृत आवरण एवं तत्प्रभाव से रहित होने के कारण उसे ही निर्गुण भी कहा जाता है।

जिस तरह मेघादि सूर्य के आवरक होते हैं, उपनेत्रादि नहीं, उसी तरह अस्वच्छ उपाधि सच्चिदानन्द की आवरक होती है, स्वच्छ नहीं। इसलिये शिव की शक्ति काली से संहार होता है। केवल प्रकाश सृष्टि नहीं हो सकती, इसीलिये सरस्वती को रज के अधिष्ठाता ब्रह्मा का सहारा लेना पड़ता है। रज से कार्य बनता चलता है, परन्तु यदि उसमें टिकाव न हो, तो पालन नहीं बन सकता, अतः कार्य को टिकाऊ या स्थिर करने के लिए लक्ष्मी को तमोऽधिष्ठाता विष्णु की अपेक्षा होती है। तम के प्राबल्य में अत्यन्त रुकावट होने पर पालन न होकर संहार होता है। परन्तु संहार में भी किसका, कब, कितने दिन तक संहार हो, इसके ज्ञान के लिए सत्त्व की अपेक्षा है, इसीलिये काली शिव का सहारा लेती है। अन्यथा ब्रह्मा को रज, रुद्र को तम और विष्णु को सत्त्व का अधिष्ठाता कहा जाता है। ब्रह्मा का रङ्ग तो उनके गुण रज के अनुसार रक्त है, परन्तु शिव, विष्णु में यह नहीं घटता। सत्त्वगुण के अनुसार शिव शुक्ल और तम के अनुसार विष्णु कृष्ण हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि शिव, विष्णु के परस्पर ध्यान से रूप में परिवर्त्तन हो गया। स्थिर रखना तम का कार्य्य है, अतः पालक में तम का परमापेक्ष है। अन्यत्र संहार होने से रुद्र में तम, पालक होने से विष्णु का सत्त्वमय कहा गया है, कहीं निराकार और अव्यक्त को आकाशादि के समान श्याम रङ्ग का व्यञ्जक माना जाता है, परन्तु त्रिदेवियों की रूपव्यवस्था तो सर्वथा गुणों के अनुसार है। त्रिदेवों में उत्पादक, पालक संहार को क्रमेण राजस, सात्त्विक, तामस कहा है। इन गुणों के वश होने से जीवन बद्ध होता है, उपर्युक्त त्रिदेव एवं त्रिदेवियाँ गुणों के वश नहीं, किन्तु गुणों की नियन्त्री है; अतः वे स्वतन्त्र हैं। इसके अतिरिक्त एक विशेषता और है, वह यह कि गुणों का विमर्शवैचित्र्य होने से एक गुण के भीतर भी सब गुणों का अस्तित्व होता है।

जैसे तामसी प्रकृति जगत् का उपादान है, फिर भी उसके भीतर राजस और सात्त्विक अन्तःकरणादि होते हैं, तमोलेशानुविद्ध सत्त्वप्रधाना अविद्या में भी तमोरज आदि के तारतम्य से उत्कर्षापकर्ष होता है, वैसे ही विशुद्ध सत्त्वप्रधाना विद्या या माया में भी सात्त्विक, राजस, तामस भेद होते हैं। उसी भेद से ब्रह्मा, विष्णु आदि बनते हैं। यह ईश्वरकोटि है, इनकी उपाधि माया है, वह विशुद्ध सत्त्वप्रधाना होती है, फिर भी उत्पादक में रज, पालक में सत्त्व और संहारक में तम का अंश रहता है। पूर्वोक्त रीति से भगवती के महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती ये तीन रूपप्रधान है। उपनिषदों में प्रकृति को **'लोहित-शुक्ल-कृष्ण'** कहा गया है, क्योंकि उसमें रजः, सत्त्व और तम यह तीन गुण होते हैं। किसी भी कार्य्य का सम्पादन करने के लिए हलचल, प्रकाश और अवष्टम्भ अर्थात् रुकावट इन तीनों की अपेक्षा हुआ करती है। इनमें से एक के बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता, इसीलिये सृष्टि को त्रिगुणात्मिका कहा जाता है। प्रकाश सत्त्व है, हलचल रज और अवष्टम्भ तम है। रज रक्त है, सत्त्व शुक्ल है, तम कृष्ण है। केवल निर्विकार, कूटस्थ, चैतन्य कुछ कर

नहीं सकता, गुण योग से ही कार्य हो सकता है, अतएव गुणों का आश्रयण करने से ही त्रिदेवी एवं त्रिदेव भी तीन रङ्ग के ही हैं। शङ्कर-सरस्वती ये दोनों भाई-बहन शुक्ल रूप के हैं। ब्रह्मा-लक्ष्मी दोनों भाई-बहन रक्त वर्ण के हैं। विष्णु-गौरी ये दोनों भाई-बहन कृष्ण रङ्ग के हैं। भाई-बहन ही प्राय: एक रङ्ग के होते हैं, पति-पत्नी के एक रङ्ग होने का नियम नहीं होता। इसलिए शिव-गौरी, विष्णु-लक्ष्मी, ब्रह्मा-सरस्वती ये दम्पती एक रङ्ग के नहीं हैं। गौरी की सरस्वती ननन्दा है, स्वयं उसकी भ्रातृजाया (भावज) है, सरस्वती लक्ष्मी की भावज है, लक्ष्मी उसकी ननद है, लक्ष्मी गौरी की ननद है। इसलिये शिव, विष्णु, ब्रह्मा में भी श्यालक एवं भगिनीपति का सम्बन्ध है। सृष्टि में हलचल और ज्ञानशक्ति दोनों की ही अपेक्षा होती है। रज की हलचल और सत्त्व की ज्ञानशक्ति ही सृष्टि कर सकती है, इसीलिये ब्रह्मा की पत्नी सरस्वती से सृष्टि होती है। तम की रुकावट से और रज की हलचल से पालन होता है, अतएव विष्णुपत्नी लक्ष्मी से पालन होता है। सत्त्व के प्रकाश एवं तम के अवष्टम्भ से संहार होता है अत: शिवपत्नी गौरी से संहार होता है। सर्वसत्त्वमयी भगवती साकार होकर अनेक नामोंवाली होती है, निराकाररूप से तो किसी का भी शब्द से वाच्य नहीं है।

ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यरूपिणी।
यस्या: परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता।। —*देव्यथर्वशीर्ष, २५*
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

त्रिगुणा तामसी महाकाली है, वही हरि की योगनिद्रा है, उसकी विष्णु को जगाने के लिए ब्रह्मा ने स्तुति की है। वह दशमुख, दशभुज, दशचरण और तीस विशाल नेत्रवाली है। यद्यपि शत्रुओं को उसका रूप बड़ा ही भयावना लगता है, तथापि भक्तों के लिए तो वह रूप सौभाग्य और कान्ति की एकमात्र प्रतिष्ठा है। खड्ग, बाण, गदा, शूल, चक्र, पाश, भुशुण्डि, परिघ, कार्मुक और सद्य:कृत्त: शिर उसके हाथ में है। इसकी विधिपूर्वक पूजा करने से साधक चराचर विश्व को स्वाधीन कर लेता है। जो देवी सर्वदेव शरीरों से उत्पन्न हुई वह महालक्ष्मी है। यद्यपि वह सहस्र भुज या अनन्त भुजवाली है, तथापि साधक अष्टादशभुजा रूप से उसको पूजते हैं। उसका मुख शिव-समुद्भूत तेज से बना है, अत: श्वेत है। भुजा विष्णु के अंश से हुई है, अत: नील है। स्तनमण्डल सौम्यांश से बने हैं, अत: सुश्वेत हैं। कटि इन्द्रांश से हुई है, अत: रक्त है। चरण ब्रह्मांशजन्य होने से रक्त, जङ्घा और ऊरु वरुणांशजन्य हैं अत: नील है। सुचित्र जघना, चित्र माल्य और अम्बर को धारण किये हैं। दाहिने वाम भाग के नीचे के क्रम से उसके निम्नलिखित आयुध हैं—अक्षमाला, कमल, बाण, असि, कुलिश, गदा, चक्र, परशु, त्रिशुल, शङ्ख, घण्टा, पाश, दण्ड, चर्म, चाप, पानपात्र और कमण्डलु। इस महालक्ष्मी के पूजन से सर्वलोकाधिपत्य मिलता है। सरस्वती आठ भुजा की है। बाण, मुशल, शूल, चक्र, शङ्ख, घण्टा, लाङ्गल और कार्मुक उसके आयुध हैं। इसकी उपासना से सर्वज्ञता मिलती है।

(भक्तिसुधा से साभार)

जप विज्ञान और आत्मा का पूर्ण जागरण

महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथजी कविराज

बहुतेरे लोग जानना चाहते हैं कि जप करते-करते क्रमशः अन्तर्मुखी गति क्यों नहीं मिलती और जब अन्तर्मुखी गति का उदय होता है तो उस गति का चरम लक्ष्य ही क्या होता है? इस प्रश्न के समाधान के लिए जप के विज्ञान को ठीक से समझना होगा। साधारण तौर पर जप तीन प्रकार का होता है, यह शास्त्र का सिद्धान्त है। एक वाचिक जप, एक उपांशु जप और एक मानस जप—इन तीन प्रकार के जप में वाचिक जप निषिद्ध है। और, मानसिक जप श्रेष्ठ होते हुए भी साधारणतया अगम्य है। इसलिए अधिकांश स्थल में उपांशु जप का विधान देखा जाता है। लेकिन यह स्मरण रखना है कि इन तीनों प्रकार के ही जप का वैशिष्ट्य एक ही प्रकार का है। वैखरी जप में सर्वत्र ही बाह्य वायु की आवश्यकता है; क्योंकि इसमें कण्ठ आदि स्थानों में वायु के आघात की जरूरत होती है। सच पूछिए तो उपांशु जप में भी कुछ परिमाण में बाह्य वायु की क्रिया मौजूद रहती है। मानसिक जप में बाह्य वायु का प्रभाव नहीं रहने की ही बात है, पर साधारण लोग बाह्य वायु से योग नहीं रखकर मानसिक जप नहीं कर सकते; क्योंकि यदि कर सकते तो श्वास की गति में विलक्षणता आती। इसलिए यह समझना होगा कि प्रथमावस्था में जिस किसी प्रकार से भी जप क्यों न किया जाय, उसमें थोड़े परिमाण में बाह्य वायु का प्रभाव रहे बिना नहीं चलता।

वैखरी जप मातृका या वर्णमाला से सम्पन्न होता है। वर्णमाला वायु की संहति से उत्पन्न होती है। इसलिए मन-ही-मन वर्णात्मक शब्द की चिन्ता करने से भी थोड़े परिमाण में बाह्य वायु की क्रिया हुए बिना नहीं रह सकती। और, बाह्य वायु की क्रिया होने को हुई कि कण्ठ आदि उच्चारण-स्थान में आघात अनिवार्य है।

जप करते-करते जब जापक का आपेक्षिक उत्कर्ष होता है तो स्वभावतः ही कण्ठ रुँध जाता है। इच्छा या चेष्टा करके कण्ठरोध नहीं करना पड़ता।

बिन्दु क्षुब्ध होकर प्रवाहशील नादरूप में परिणत होता है और नाद वायु के संघर्ष के कारण वर्णमाला-रूप में प्रकाशित होता है। अतएव वर्णमाला को आश्रय करके जिस किसी प्रकार के जप या शब्द की आवृत्ति क्यों न की जाय, उसमें बाह्य वायु का स्पर्श रहेगा ही और बाह्य वायु के स्पर्श-निबन्धन से अन्तर्मुख गति में जरूर बाधा पड़ेगी।

इसलिए अन्तर्मुख गति प्राप्त करने के लिए क्रमशः बाह्य वायु से आभ्यन्तरीण वायु में प्रविष्ट होना आवश्यक है और सबसे पहले वायुमण्डल को भेदकर आकाश-मण्डल में प्रविष्ट होना जरूरी है। आकाश

के बहुत स्तर है। वायु के भी नाना स्तर हैं। आकाश के सर्वोच्च स्तर को भेद कर सकने से ही विशुद्ध चैतन्य-राज्य में प्रवेश करने का अधिकार उत्पन्न होता है।

गुरु की दी हुई शक्ति सहाय हो और साधक उद्यमशील हो तो अन्तर्मुख गति स्वभावत: ही हो जाती है। काल के राज्य में परिणति स्वाभाविक है। बालक को युवक होने के लिए कोशिश नहीं करनी पड़ती और युवक को भी बुढ़ापा पाने के लिए चेष्टा नहीं करनी पड़ती, वैसे ही वैखरी से परा तक गति पाने के लिए योगी को चेष्टा की जरूरत नहीं। वैखरी से मध्यमा में स्वभावत: ही संचार होता है। यही प्रकृति का नियम है। बार-बार वैखरी का अभ्यास करने से कण्ठद्वार रुद्ध हो जाता है और हृदय-द्वार खुल जाता है। गुरुशक्ति-युक्त जप के प्रभाव से वैखरी का अभ्यास करते-करते वैखरी समाप्त होती है और मध्यमा में प्रवेश होता है।

जब तक साधक वैखरी-भूमि में निविष्ट रहता है, तब तक वह विकल्प भूमि में मौजूद रहता है। वैखरी-भूमि इन्द्रिय-राज्य का व्यापार है। उसके साथ मन की क्रिया का न रहना हो ही नहीं सकता। लेकिन वैखरी-भूमि में बाह्य प्रमेय नहीं रहता, इन्द्रिय की क्रिया भी नहीं रहती—किन्तु विकल्पात्मक मन की क्रिया रहती है। वैखरी-अवस्था में देहात्म-बोध स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है और साधक का कर्तृत्व-अभिमान जगा रहता है। मध्यमा में वह अभिमान बहुत कुछ क्षीण हो जता है। परन्तु विकल्प का उदय तब भी रह जाता है। वैखरी में जप करते-करते अपने-आप मध्यमा में प्रवेश होता है। सधारणतया जप की मात्रा द्रुत अथवा विलम्बित न होकर मध्यम अवस्था में रहनी चाहिए। इस प्रकार, नियम की रक्षा करते हुए जप कर सकने से जप से ध्यान की अवस्था आप ही आ जाती है। पर यह ध्यान स्थायी नहीं होता। वैसे में ध्यान से जप में आ जाना पड़ता है। इस प्रकार बार-बार जप और ध्यान के आवर्त्तन से ध्यान की अवस्था अपेक्षाकृत स्थायी हो जाती है। जप की क्रिया योगी की दृष्टि में योग का अङ्ग है और ध्यान-समाधि भी योग का अङ्ग है। दोनों ही का अनुशीलन जरूरी है। इधर ध्यान की अवस्था के साथ-साथ मध्यमा की क्रिया आरम्भ हो जाती है। तभी वैखरी वाक् निरुद्ध, देहात्म-बोध अत्यन्त क्षीण और बहिर्भाव निरुद्ध होकर अन्तर्मुख भाव की सूचना हुई होती है। इस अवस्था में नाद का प्रसार आरम्भ होता है और साथ-ही-साथ वर्णात्मक मातृका विलीन होकर ध्वनि के रूप में परिणत होती है। इस अवस्था में कण्ठ रुँधा रहता है तथा हृदय का द्वारा खुल जाता है। वायु की क्रिया तब भी रहती है, लेकिन भीतर। बाह्य वायु की क्रिया नहीं रहती। इव अवस्था में निरन्तर अनादि-अनन्त ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह नाद-ध्वनि बड़ी विशाल होती है। इसमें सारी वर्णात्मक मातृका लीन हो जाती है। जल की तरङ्ग लीन हो जाने से जैसे मात्र जल ही बाकी रहता है, वैसे ही वर्णात्मक तरङ्ग के निवृत्त होने से ध्यानात्मक शब्द अपना प्रभाव लेकर नाद-रूप में प्रकाशित होता है। शुरू में इस नाद में वर्णात्मक नाम अथवा मन्त्र की तरङ्ग रहती है, परन्तु साधक के कर्त्तृत्व के अभिमान के विगलित होने से वह नाद में आप ही उच्चारित होता है, उसे उच्चारण नहीं करना पड़ता। यही एक प्रकार से ब्रह्मनिर्घोष है। यह नाद-ध्वनि वास्तव में वर्णात्मक नहीं हेते हुए भी पहले वर्णात्मक शब्द जैसी सुनाई पड़ती है। जैसे 'वह बात बोलो' चिड़िया की बोली। वह वर्णात्मक नहीं है, फिर भी उसे वर्णात्मक रूप समझना चाहिए। वास्तव में वह ध्वनि-मात्र है, उसमें वर्णसंघात कुछ भी नहीं। फिर भी संस्कारवश वैसी प्रतीति होती है। इस समय साधक श्रोता

होकर अपने आभ्यन्तर से उच्चारित अपना मन्त्र या नाम का ध्वन्यात्मक रूप ध्यान से सुनता रहता है। उपनिषद् में श्रवण-मनन की जो बात आई है, वास्तव में यही वह श्रवण है।

हृदय से उठती हुई नाद-ध्वनि को निरन्तर सुनते-सुनते उस ध्वनि से वर्ण का आभास कट जाता है। तब निराभास नाद-ध्वनि उठती रहती है। इस तरह काफी समय बीत जाने पर क्रमशः अन्तःकरण शुद्ध होता है और चिदाकाश निर्मल होकर प्रकट होता है। हर साधारण व्यक्ति आँख मूंदने से जो अन्धकार देख पाता है, वही वास्तव में हृदय का अन्धकार है। मध्यमा वाक् के लगातार अभ्यस से वह अन्धकार अपगत होता है। चिदाकाश निर्मल हेकर दिखाई पड़ता है और साथ-ही-साथ नाद-ध्वनि क्षीण होती रहती है। ऐसी अवस्था का उदय होने से समझना होगा कि मध्यमा भूमि का अवसान सन्निहित है। यह चित्त-शुद्धि की अवस्था है। चित्त के अत्यन्त शुद्ध होने से एक ओर जैसे अन्धकार नहीं रहता, दूसरी ओर वैसे ही ध्वन्यात्मक शब्द भी निवृत्त हो जाता है। यह 'आध्यात्मिक उषा' के रूप में वर्णित होने के योग्य है। इस अवस्था में मन क्रमशः निवृत्त होकर चिदाकाश की ओर उन्मुख हो जाता है। तब प्रकाश का उदय नहीं हुआ, मगर अन्धकार भी नहीं—ऐसी अवस्था होती है। सूर्योदय के पहले और रात के बीतने के बाद जिस अवस्था का उदय होता है, यह उसी जैसी है। जो शब्द अब तक सुनाई पड़ रहा थ—अवश्य अभ्यन्तरीण—अब वह सुनाई नहीं पड़ता। इव अवस्था में चिदाकाश में एक ज्योतिर्मण्डल प्रकाशित होता है और साधक अथवा योगी की दृष्टि उस मण्डल की ओर खिंचती है। उस समय देह की स्मृति नहीं रहती तथा मन की क्रिया अस्तमित-सी होती है। इस अवस्था में आभसमयी चित्-शक्ति की ही क्रिया होती है। साधक की निष्ठा निराकार और निर्गुण सत्ता की ओर होने से वह ज्योतिर्मण्डल क्रमशः निकट होकर सत्ता से तादात्म्य-लाभ करता है। उसके बाद ज्येति का भेद हेकर परावाक् में प्रवेश होता है। किन्तु साधक अगर साकार का उपासक होता है, तो उस ज्योतिर्मण्डल में इष्टदेवता की मूर्त्ति प्रकाशित होती है और क्रमशः वह इष्ट सत्ता अपनी सत्ता के साथ या अपनी इष्ट सत्ता के साथ अभिन्नता प्राप्त करती है। निराकार उपासक को ज्योतिर्मण्डल में अपना स्वरूप भी परिदृष्ट हो सकता है। यह सब वैचित्र्य साधक का भाव-सापेक्ष है। जिस किसी भी रूप का प्रकाश क्यों न हो, वह ज्योति में ही प्रकाशित होता है और धीरे-धीरे ज्योति मिटती है तथा सिर्फ रूप ही स्वयं प्रकाश-रूप में विद्यमान रहता है,. द्रष्टा और दृश्य का भेद उस समय नहीं रहता। प्रकाश जैसा भी क्यों न हो, वह आत्मा का ही स्वरूप है, इसमें कोई सन्देह नहीं और वह साक्षात्कार अभिन्नता का सूचक है। यह पश्यन्ती वाक् की अवस्था है, मन्त्रसिद्धि या इष्ट-साक्षात्कार इसी का दूसरा नाम है। प्राचीन युग में कोई योगी अथवा साधक इस अवस्था में पहुँचता था, तो उसे 'ऋषि' गिना जता थ। इस अवस्था में मन नहीं रहता, इन्द्रिय की क्रिया भी नहीं रहती, विश्व-जगत् का भान भी नहीं रहता, रहती है सिर्फ चैतन्यमय स्वरूप की सत्ता। यह जिस रूप में भी प्रकट क्यों न हो, वह अपना ही स्वरूप है, उस समय यह समझ में आता है। पर यह खण्ड अवस्था है। इसकी भी पूर्ण परिणति है। तब खण्ड सत्ता अखण्ड सत्ता में आत्मप्रकाश करती है। वह उन्मनी अवस्था है और आत्मा का निर्मल साक्षात्कार है, सिद्धगण इसी की परावाक् में गणना करते हैं। यह पराशक्ति के ही स्वरूप के अन्तर्गत है। मन्त्र-साधना या ज्ञान-साधना का यही चरम लक्ष्य है।

यह चरम स्थिति जप-साधना के प्रभाव से आती है। फिर वक्रगति तो आती ही नहीं, सरल गति भी स्थिति-बिन्दु में एकाकार हो जाती है। शिव-शक्ति का सामरस्य तब आप ही संघटित होता है। आगमविद्गण इसी को आत्मा का पूर्ण विकास कहते हैं। इसकी भी परावस्था है। परावस्था की भी परावस्था है। विशुद्ध चैतन्य का पूर्ण विकास हेने से ही उस अवस्था में स्थिति मिलती है। जप की पूर्ण परिणति के फलस्वरूप इस आत्मविकास की अवस्था प्रकट होती है। जप-क्रिया की यही पूर्ण परिणति समझनी चाहिए। यह क्रिया-योग नहीं, बल्कि क्रिया-योग की परिणति का फल है।

आत्मा का पूर्ण जागरण और उसकी परिणति

(१)

श्रीमद्भगवद्गीत में कहा गया है कि इस संसार में सभी आत्माएँ वास्तव जाग्रत् अवस्था में नहीं हैं। मायिक जगत् में अज्ञान के आवरण से ढँकी वे मोह-निद्रा में सोई पड़ी है। जब तक वे उस मोह-निद्रा में नहीं उठेंगी तब तक मायातीत चिन्मय सत्ता का अनुभव नहीं कर सकेंगी—चिन्मय दिव्य जगत् में संचरण करने की बात तो दूर है। ठीक उसी प्रकार जगत् में ऐसे महापुरुष-रूपी आत्मा भी है, जो संयमी होने के कारण इस मोहमाया जगत् को देख नहीं पातीं। उनकी दृष्टि हमेशा चिद्भूमि पर पड़ी रहती है। वे चिद् आकाश तथा उसके ऊपर के चिन्मय राज्य का सदा दर्शन करती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने।। — *गीता*

इस श्लोक में संयमी या प्रबुद्ध तथा मूढ़ या निद्रित आत्माओं के वैशिष्ट्य का वर्णन है।

इससे समझ में अता है, संसार के अधिकांश जीव ही सोये हुए हैं। हमारे प्रचलित जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इस नींद के ही प्रभार-भेद मात्र हैं। यानी व्यवहार-भूमि में हम जिसे जाग्रत् अवस्था समझते हैं, वह भी वास्तव में जाग्रत् नहीं है। विज्ञान की दृष्टि से वह भी निद्रा के ही अन्तर्गत है। इस प्रसङ्ग में यह याद रखना है कि मनुष्य-मात्र के ही जीवन का लक्ष्य इस मोह-निद्रा से जाग उठना है और पूर्णरूप से जाग्रत् होकर ऊर्ध्व की ओर क्रम-विकास के फलस्वरूप जीवभाव से शिवभाव में उन्नीत होना तथा आत्मा की पूर्णता को प्राप्त करना है। आचार्य शङ्कर ने अपने *दक्षिणामूर्त्ति* स्तोत्र में स्पष्ट निर्देश किया है, इस मोह-निद्रा से जो जीव को जगा देते हैं, वही वास्तविक सद्गुरु हैं। जीव जब पूर्णरूप से जग उठता है, तो सबसे पहले यही अनुभव करता है कि यह जगत् उसके बाहर नहीं, बल्कि उसके अन्तर में है। स्वच्छ दर्पण में जैसे विराट् नगर प्रतिबिम्बित होता है और यह प्रतिबिम्बित नगर जैसे दर्पण के ही अन्तर्गत होता है, दर्पण से बहिर्मुख नहीं, ठीक उसी प्रकार समग्र विश्व को ही आत्मारूप स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित समझना चाहिए। वास्तव में यह विश्वद्रष्टा आत्मा के अपने ही अन्तर्गत है, उससे बाहर स्थित नहीं है। माया के कारण जो अन्तर की वस्तु है, उसे अन्तर में न देखकर बाहर देखा जाता है। शुद्ध विद्या का संचार करके सद्गुरु जब जीव को मोह-निद्रा

से जगा देते हैं, तो जीव अपने आत्मस्वरूप में प्रबुद्ध होकर समग्र विश्व को अपने अन्तर्गत समझकर प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। स्मरण रखना होगा कि इस तथाकथित बाह्य जगत् से आन्तर जगत् में प्रवेश करना ही साधन का उद्देश्य है और गुरु-कृपा का भी वही एकमात्र लक्ष्य है।

आन्तर जगत् में प्रवेश की यह जो बात कही गई, इसमें क्रम है। पहले अज्ञान-जगत् से ज्ञान-जगत् में प्रवेश करना होता है। उसके बाद परासंवित् में नित्यधाम की प्राप्ति होती है। अज्ञान के जगत् में रहते हुए यह अनुभव होता है कि यह जगत् भेद-ज्ञान के द्वारा अनुप्राणित है। पर जब गुरु की कृपा से ज्ञान का उदय होता है, तब समझ में आता है कि वास्तव में ज्ञेय वस्तु बाहर कुछ नहीं है। ज्ञेय वस्तु बाहर है, यह ज्ञान भ्रम है। इस मार्ग में प्रवेश करने से देखने में आता है कि ज्ञेय वस्तु वस्तुत: साकार ज्ञान ही है। यही बाह्य या स्थूल रूप में कल्पित हुआ है। जिसे हम माया कहा करते हैं, वह क्रियाशक्ति का ही दूसरा नाम है। इसी के प्रभाव से साकार ज्ञान बाह्य पदार्थ-रूप में प्रतीयमान होता है। ज्ञान के राज्य में ज्ञान ही एक छोर पर साकार ज्ञान या ज्ञेय रूप में भासमान होता है और दूसरे छोर पर वही ज्ञान ही ज्ञातारूप में आत्मप्रकाश करता है। ज्ञान-राज्य को पार करने के लिए ज्ञान के इस ज्ञेयभाव और ज्ञातृभाव को दूर करना जरूरी है। यह कर पाने से ज्ञान विशुद्ध होता है।

इस विशुद्ध ज्ञान का अवलम्बन करके ज्ञान-राज्य से संवित्-राज्य में प्रवेश करना होता है। माया या अज्ञान के राज्य में भेदज्ञान प्रबल है। ज्ञानराज्य में भेदाभेदज्ञान रहता है। परन्तु संवित् राज्य में भेद का लेश भी नहीं। यह अभेद-ज्ञान की अद्वैत भूमि है। यह तुरीय राज्य-रूप में वर्णित होने योग्य है। इसके बाद अखण्ड प्रकाश है, जिसका तुरीयातीत कहकर भी उल्लेख नहीं किया जा सकता।

मनुष्य-जीवन का प्रकृत उद्देश्य रूपान्तर प्राप्त करना है—यह व्यापार गुप्त रूप से सम्पादित होता है। इसलिए गुप्त पथ से प्रवेश करना होता है। गुप्तधाम का व्यापार वास्तव में रहस्य है।

रूपान्तर की जो बात कही, उसी का नाम जागरण है। पूर्ण जागरण ही पूर्ण रूपान्तर अथवा अखण्ड महाप्रकाश रूप में विश्राम है। माया के राज्य में आत्मा भेदज्ञान से मुक्त नहीं हो सकती; क्योंकि यहाँ की विद्या अशुभ विद्या है। यह माया का कञ्चुक है। इसके बाद कला का नियन्त्रण भी है और अदृश्य कञ्चुक का आवरण भी है। अन्तर्जगत् में प्रवेश का पहला उपाय शुद्ध विद्या का उन्मेष है। इससे पशुत्व निवृत्त होता है। पशुभाव में अवस्थित पुरुष संवित् मार्ग में प्रवेश का अधिकार नहीं पाता, यानी शुद्ध विद्या प्राप्त नहीं होने तक महाशक्ति के मार्ग में प्रवेश असम्भव है।

(२)

आत्मा की विभिन्न प्रकार की अवस्थाओं को समझने के लिए प्रतीति के भेद का विश्लेषण करना आवश्यक है। प्रतीति के अनुसार ही किसी प्रमाता आत्मा को अप्रबुद्ध या निद्रित कहा जाता है या दूसरे किसी प्रमाता को अप्रबुद्ध नहीं कहकर प्रबुद्ध-कल्प कहा जाता है।

यह विश्व-भुवन (जो महामाया और माया के अन्तर्गत है) अनाश्रित शिव से कालाग्नि रुद्र तक विस्तृत है। अर्थात् समग्र विश्व के ऊर्ध्व शिखर पर अनाश्रित शिव है और सबके नीचे कालाग्नि रुद्र खेल रहे हैं। प्रकाशात्मक होने के नाते यद्यपि यह विश्व प्रकाश की भित्ति से लगा है, तथापि 'भवी' आत्मा अर्थात् अप्रबुद्ध आत्मा सोचती है कि सब कुछ उसके बाहर है। 'भव' से यहाँ भेदज्ञान समझना होगा। भेद-ज्ञान-सम्पन्न सिद्ध आत्मा भी 'भवी' नाम से अभिहित होती है। माया द्वारा अभिभूत रहने के कारण ये अभिन्न वस्तु में भिन्न ज्ञान का आश्रय करके रहती हैं।

भवीगण से ऊपर और एक प्रकार की आत्मा है—इनके भेदज्ञान नहीं। परन्तु भेदज्ञान नहीं रहने पर भी इनका संस्कार है। किन्हीं-किन्हीं ने इन्हें 'भवपदी' कहकर निर्देश किया है। ये आत्माएँ शुद्ध विद्यापद में अनुप्रविष्ट हैं और कोई-कोई सम्प्रज्ञात समाधि के स्तर पर रहती हैं। ये आत्माएँ शुद्ध विद्या के प्रभाव से आन्तरिक संस्कार आदि को भिन्नवत् अनुभव करती हैं। इनमें दो श्रेणियाँ हैं। कोई-कोई बाह्य ज्ञान-रहित होती है और किसी-किसी में बाह्य ज्ञान रहता है। जिनमें बाह्य ज्ञान रहता है, उन्हें परासंवित् तत्त्व का उपदेश दिया जा सकता है। पशु होने पर भी ये योग्य पशु हैं, कारण कि ये अधिकारी हैं। ये सब चिद्-अणु सोचते हैं कि ग्राहक और ग्राह्य रूप में विश्व के दो विभाग हैं। जो अंश ग्राहक है, वह अजड़ है, चिन्मय है और जो अंश ग्राह्य है, वह जड़ और अचित् है। इस कोटि के पशु माया से मोहित नहीं होते; क्योंकि यह जो ग्राह्य वस्तु को जड़ और अपने से भिन्न समझना है, यही माया है। ये पशु अपने स्वरूप को पहचान नहीं सकते। ये भी पूर्व-वर्णित 'भवी-आत्मा' के अन्तर्गत है। दो प्रकार के प्रमाता की बात कही गई। इनमें से कोई प्रबुद्ध नहीं। इसके बाद प्रबुद्ध नामक तीसरे प्रकार का प्रमाता आलोचना का विषय है। इन आत्माओं को 'द्विपदी' कहा जा सकता है; क्योंकि एक ओर जैसे इनमें भव-संस्कार है, वैसे ही दूसरी ओर इनमें उद्भव-संस्कार भी है। ये सब प्रमाता भेदाभेद दशा में हैं। एक ओर जैसे ये जड़भावात्मक इदन्ता को आश्रय करते हैं, दूसरी ओर वैसे ही चिद्भावात्मक अहन्ता को प्राप्त करते हैं। अतएव इनकी अनुभूति 'ग्रह और मैं' इन दोनों का समानाधिकरण है। अर्थात् ये अहंभाव का आरोपण कर अनुभव के भेदांश को डुबोकर 'इदं-अहं' रूप में बोध प्राप्त करते हैं। ये अपने शरीर-सदृश विश्व को देखते हैं, जिसमें भेद रहता है, अभेद भी रहता है। योगिगण इसे ईश्वर की अवस्था कहा करते हैं। यह हुआ प्रबुद्ध आत्मा का विवरण।

प्रबुद्ध अवस्था से सुप्रबुद्ध अवस्था तक आत्मा की उन्नति आवश्यक है। परन्तु प्रबुद्ध अवस्था से अप्रबुद्ध में जाने के लिए एक मध्य अवस्था प्राप्त करके और उसे त्याग कर अग्रगति पाना चाहिए। अभेद ज्ञान या कैवल्य 'उद्भव' के नाम से परिचित है। जो यह अवस्था प्राप्त करते हैं, उनके निकट इदं-रूपी प्रकृति के विषयीभूत ज्ञेय पदार्थ अहं-रूपी आन्तरिक पद में निमग्न रहते हैं। इस निमग्न भाव की प्रकृति को 'निमेष' कहते हैं। यह विमर्श शक्ति से आता है। यह अवस्था सदाशिव की अवस्था जैसी है—इसमें अहंभाव के द्वारा आच्छादित अस्फुट इदंभाव विद्यमान रहता है। यह अवस्था स्थायी नहीं है। जब यह आविर्भूत होता है, तो अपने स्वरूपभूत प्रकाश में एक बार निमग्न और उसके बाद उन्मग्न—ये दोनों ही भाव अनुभूत होते हैं। मग्न रूप को कहते हैं निमेष और उन्मग्न रूप को कहते हैं उन्मेष। जैसे समुद्र में कब

तरङ्गें उठती हैं और कब खो जाती हैं, पर दोनों ही हालत में समुद्र समुद्र ही रहता है, ठीक वैसे ही शिवादि विश्व प्रकाशात्मक रूप में ही प्रकाश-रूप में खुलता है, फिर प्रकाश में ही विलीन हो जाता है। यह अवस्था प्रबुद्ध और सप्रबुद्ध दोनों अवस्थाओं के बीच-बीच की है। इसे समना अवस्था कहते हैं।

उन्मना के द्वारा जब स्वरूप में अवस्थिति होती है, तो उसी स्थिति को उन्मना कह जाता है। उन्मना के द्वारा जब पूर्णत्व-सिद्धि अविचलित होती है, तो योगी सिद्ध और प्रबुद्ध अवस्था-लाभ करता है। इस अवस्था में स्थित होने से मन की कोई क्रिया नहीं रहती अर्थात् मन की चञ्चलता इसे कदापि स्पर्श नहीं करती।

योगी जब सुप्रबुद्ध अवस्था प्राप्त कर लेते हैं तो उनके इच्छा करते ही अभीष्ट विभूति का आविर्भाव होता है। साधारणतया इसी को इच्छा-शक्ति कहते हैं।

इससे यह समझ में आता है कि योगी की इच्छा करने से ही वह इच्छा शक्ति का रूप धारण नहीं करती। क्योंकि मन को अतिक्रम किये बिना आत्मा का जागरण पूर्ण नहीं होता और आत्मा के पूरी तरह नहीं जाग जाने से यानी मन से पूर्णतया मुक्त नहीं हो जाने से उसकी इच्छा इच्छा-शक्ति का रूप नहीं धारण करती।

सिद्धि की जो बात कही गई, वह नाना प्रकार की है और उसका आविर्भाव भी विभिन्न उपायों से होता है। इन सिद्धियों को अपर सिद्धि और परसिद्धि—इन दो श्रेणियों में बाँटना सम्भव है। अपर सिद्धि निम्न स्तर की और परसिद्धि ऊर्ध्व स्तर की सिद्धि है।

आद्या सिद्धि गुरु प्राप्त करने का दूसरा नाम है और दूसरी सिद्धि शिवत्व का स्वरूप है। इन दोनों को महासिद्धि कहा जा सकता है। सूर्य आदि जिस किसी वस्तु को आत्मा-रूप में दृढ़ भावना कर पाने से उसका जगत्-प्रकाशन आदि कर्म जो नित्यसिद्ध हैं, उन्हें पहचाना जा सकता है। यही प्रत्यभिज्ञा (recognition) है। जब यह प्रत्यभिज्ञा बहुत दृढ़ होती है तो वह अर्थकारी रूप में प्रतीत होती है, यानी वह कार्यरूप में परिणत होती है। उस समय योगी सूर्य आदि का रूप स्वयं न होते हुए भी सूर्य आदि वस्तु का रूप धारण करता है। विमर्श अथवा ज्ञान के दुर्बल होने से भिन्न रूप में स्थिति होती है। परन्तु उस विमर्श-ज्ञान के प्रबल होने से भेद और भ्रम का संस्कार नहीं होता। योगी उस समय स्वयं विश्वात्मक हो जाता है, इसलिए सारी सिद्धियाँ नित्यसिद्धि-रूप में प्रकाशित होती हैं और उसके दृढ़ होने से केवल भाव-मात्र नहीं रहता, बल्कि अपने-अपने कार्य-साधन में सामर्थ्य उत्पन्न होता है। लेकिन इस बात का ख्याल रहना चाहिए कि योगी को सभी अवस्थाओं में अपना जो परिपूर्ण प्रकाशात्मक विश्वरूपी स्वरूप है, उससे अविचलित रहना आवश्यक है।

जो देवता जो कार्य-साधन करता है, वह कार्य-साधन यदि आवश्यक होता है, ते उस देवता के अहंकार को धारण कर सकने से क्षण-भर में ही वह कार्य-साधन सम्भव होता है।

पृथ्वी का लक्षण धारण, जल का लक्षण संग्रह, देवता का लक्षण पाक, वायु का लक्षण व्यूह और आकाश का लक्षण प्रतिघात है। योगी पृथ्वी आदि जिस भूत को आत्मस्वरूप में अनुसन्धान करता है, उस भूत की कर्मसिद्धि होती है। ठीक इसी प्रकार तन्मात्रा, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, अस्मिता, बुद्धि, अव्यक्त और पुरुष—इनमें स्थिति ले सकने से वैसी ही कर्मसिद्धि होती है। इस प्रकार राग, नियति, काल, विद्या,

कला और माया में चित्-शक्ति की धारणा सम्भव है। इसके विपरीत शुद्ध विद्या, कला और माया में चित्-शक्ति की धारणा सम्भव है। इसके विपरीत शुद्ध विद्या या सरस्वती, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और शिव—इनके ऊपर भी चित् शक्ति की धारणा सम्भव है। धारणा के साथ-ही-साथ उसके अनुरूप सिद्धि आविर्भूत होती है।

आचार्यगण कहते हैं कि शुकदेव, वामदेव, कृष्ण, दधीचि, वैन्य—इनका जो विश्वात्मक भाव पुराण और इतिहास में प्रसिद्ध है, वह पूर्वोक्त उपाय से आविर्भूत होता है। इसके बाद महासिद्धि की बात याद रखनी है। महाशक्ति या पराशक्ति के विषय को स्मरण करना आवश्यक है। यह शक्ति कोटि-कोटि कालाग्नि की दीप्ति लेकर षडध्वा को दग्ध कर रही हैं। इसका निरन्तर अनुसन्धान करना जरूरी है। जब तृप्ति या आप्लावन-रूप सिद्धि का उदय होता है, तब अमृत की लहरी वृष्टि की तरह समस्त अध्वा को प्लावित करती है। इस अनवच्छिन्न सुधा-समुद्र का स्मरण भी आवश्यक है। इस दाह और प्लावन के द्वारा सरलीकरण-रूप क्रिया की सिद्धि होती है। पूर्वोक्त प्रणाली से जितना अध्वा शोधित होती है, निःशेष उतना जगत् अनुग्रह का भाजन होता है। यह जो देह-शुद्धि की बात कही गई, यह देहात्मक रूप में संक्षिप्त षडध्वा की शुद्धि नहीं है, बल्कि समग्र विश्व की शुद्धि है। सभी आचार्य विश्व-शरीर है। किसी निर्दिष्ट देह में देही-रूप जो अभिमान है, वह आचार्यत्व नहीं है। इसलिए विश्व को अपने शरीर के रूप में परिणत करके विश्व का साधन करना आवश्यक है। अतएव प्रकाश के साथ इस देह का अभेद दर्शनकारी जो स्वरूप है, उसी को समस्त अध्वा का दाह समझना होगा। यह और कुछ नहीं, विशुद्ध चैतन्य-रूपी प्रकाश से तादात्म्य है। पहले जिस आप्लावन के बारे में कहा गया है, वह इस विमर्श का नामान्तर है। इसलिए शास्त्र में है—"प्रकाशस्य विमर्शघनता प्रत्यभिज्ञान दार्ढ्यात्" परमानन्द-आविर्भाव। प्राचीन शाक्तों ने इस व्यापार को 'सकलीकरण' कहकर वर्णित किया है, यह परम आनन्द के आविर्भाव का नामान्तर है। सच तो यह कि प्रकाश-रूपी चैतन्य जब विमर्श-शक्ति के प्रभाव से घनीभूत होता है, तब दृढ़ प्रत्यभिज्ञा के उदय के कारण यह आनन्द प्रकट होता है। इसी का नाम आद्यासिद्धि है। यह गुरु-प्राप्ति का नामान्तर है।

याद रखना होगा, इस अवस्था में भी पूर्ण ख्याति का उदय नहीं होता। इसलिए यह भी अपूर्ण ख्याति के अन्तर्गत है। अपूर्ण ख्याति स्थायी नहीं होती। परन्तु जब स्थायित्व का उदय होता है, तो इसे दृढ़ता से आश्रय करके अपूर्ण ख्याति का क्षय करना चाहिए। हर पल अनुसन्धान को दृढ़ करके क्षय की क्रिया को सम्पन्न करना चाहिए।

पूर्ण ख्याति का उन्मीलन करते-करते योगी इच्छा के अनुसार भुवनों की सृष्टि करते रहते हैं और रक्षा आदि सभी कृत्य करते हैं यानी योगी तब पञ्चकृत्य करने में समर्थ होते हैं।

पूर्णत्व-लाभ और नित्यलीला की चर्चा करने के लिए तीन ओर से विचार करना आवश्यक है। एक ओर महाप्रकाश, जो आप अपने में रहकर पञ्चकृत्यमय रूप में सर्वदा नित्यलीला-परायण हैं। दूसरी ओर चिदाकाश है, जहाँ आत्मा चिति-शक्ति के द्वारा अभिनय करती है। और एक ओर प्रेक्षक के रूप में इन्द्रियाँ

हैं। यहाँ हमने कर्त्ता, द्रष्टा और नाट्य-गृह का पता पाया। इस लीला का मूल ह्लादिनी शक्ति है। यही रसास्वादन करती है और कराती भी यही है।

(३)

गुह्य राज्य में जागरण के क्रम को नाना दिक् से नाना प्रस्थान में दिखाया गया है। यहाँ संक्षेप में कुछ चर्चा करते हैं।

पूर्ण जागरण का फल ही पूर्णत्व-लाभ है। अद्वैत शैवगण जिसे परमशिव कहा करते हैं, यही उसी का दूसरा नाम है। यह परासंवित् है, यही एक ही साथ विश्वातीत होते हुए भी विश्वात्मक है। स्वरूप सदा ही नित्य प्राप्त है, शक्ति भी वही है। जिस ओर विश्व का भान नहीं है, उस ओर शक्ति की एक कला के सिवा पूर्ण संकोच की अवस्था है। एक कला-शक्ति विश्वातीत अवस्था में भी रहती है। नहीं रहने से विश्वातीत अक्षरस्वरूप जगत् में आत्म-प्रकाश नहीं कर सकते। परन्तु इस कला के रहते हुए भी आत्मा को निष्कल कहा जाता है। उसके नहीं रहने से शिव का शिवत्व नहीं रह सकता। यह एक कला ही अमाकला का नामान्तर है। ऋषियों ने अमृतकला कहकर इसका वर्णन किया है। बाकी पन्द्रह कलाओं का संकोच और प्रसार होता है। प्रसार या विकास विश्वात्मक अवस्था में होता है।

इसका विस्तृत विवरण यहाँ अनावश्यक है। शक्ति या कला चिति-शक्ति का ही दूसरा नाम है। इसका विकास कैसे होता है, यह आलोच्य है। शक्ति की तीन अवस्थाओं की बात का स्मरण किया जा सकता है। उनमें से एक सुप्तावस्था है। एक क्रमिक जागरण की अवस्था है और एक नित्य पूर्ण जाग्रत् अवस्था है। पूर्ण जाग्रत् का भी क्रम है। शक्ति के वैसे जागरण की कहने से यही समझना होगा कि यह अचित् अवस्था से चिन्मय रूप में उठती है। शक्ति की जो कृश अवस्था है, उसमें आचार्यगण विश्व का आस्वादन नहीं करते। विश्व यद्यपि अभेद-सम्बन्ध से उसी में है, यह सत्य है, फिर भी जो कहा गया, वह भी सत्य है। विश्व उसमें 'वह' होकर है। पर वह अपने को आप आस्वादन नहीं करते हैं, जभी तो अणुभाव या संकोच का उदय हुआ है। इसलिए सुप्त अवस्था एक घेरे की अवस्था है। यह घेरा या आवरण महामाया का स्वरूप है। अणुभाव के साथ-साथ वह व्याप्त होता है। इसलिए वह शून्य है, शास्त्र में उसे तिरोधान कहा जाता है। इसलिए अस्फुट विग्रह उसमें भी रहता है। स्फुट विग्रह की अवस्था में कञ्चुक से योग होता है। बाद में कला से प्रकृति का आविर्भाव होता है। इधर पुरुष कर्ममल से युक्त हो पड़ा। क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति का उदय हुआ, चित्त का आविर्भाव हुआ, उसके फलस्वरूप देह प्रकट हुई। पुरुष तब कर्त्ता और भोक्ता बन गये। जगत् भी भोग्य-रूप में परिणत हुआ। इस प्रकार संकोच की क्रम-वृद्धि के कारण प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता-रूप विभक्त दशा का उदय हुआ।

साधारण मनुष्य के स्तर में आने से देखा जाता है कि यह भेदमय ज्ञान का राज्य है। शाक्तों ने विश्व का विश्लेषण करके उसके कई अङ्ग देखे हैं। उनमें से पहला ग्राह्य, दूसरा ग्रहण और तीसरा ग्राहक है। लेकिन उन्होंने एक प्रकार के ऐसे एक ग्राहक का पता पाया है, जिसमें ग्राह्य और ग्रहण-जनित क्षोभ नहीं है, मगर

जो फल के अधिकारी हैं। यह सही है। इस जगत् का प्रथम अङ्कुर यही है और सच पूछिए तो यही संवित् या प्रमा-अवस्था है। सारा जगत् इसी के गर्भ में है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—सब इसी के अन्तर्गत हैं। सृष्टि के प्रसङ्ग में पहले ज्ञाता का आविर्भाव होता है, उसके बाद ज्ञान का और सबसे अन्त में ज्ञेय का। इन सबको शक्ति की दशा जाननी चाहिए। यहाँ शिव शक्तिमान के रूप में नहीं, बल्कि शक्ति-रूप में है। इस शक्ति के तीन रूप हैं। एक पराशक्ति, दूसरा परा-पराशक्ति और तीसरा अपरा शक्ति। इन तीन के अलावा मातृसद्भाव नाम की एक सत्ता है। यह चतुर्दल चक्र का रहस्य है।

पूर्णता का तिरोधान होने पर इस दशा का उदय होता है। यह शक्ति-दशा के नाम से परिचित है। इससे संसार-अवस्था का उदय होता है। शक्ति की दशा अविभक्त है। इसमें परा, परापरा और अपरा—तीनों शक्तियाँ एक ही साथ हैं। अभी भी इन सब शक्तियों ने देवी-रूप नहीं धारण किया है। पहले कहे गये मातृसद्भाव का यही तात्पर्य है। यहाँ इस अवस्था में सब प्रकार की अनुभूति मौजूद है, मगर उनके मूल में क्षोभ नहीं है, लेकिन यहाँ भी अपूर्णता है। यह एक अद्भुत राज्य है।

पूर्ण सत्ता से अवतरण—इसीका नाम तिरोधान है। शाक्तगण परम प्रकाशमय इस पूर्ण सत्ता को 'भासा' के नाम से वर्णित करते हैं और इस शक्तिमय अवस्था की अनाख्या नाम से व्याख्या करते हैं। भासा से अनाख्या में अवतरण, यही निग्रह या तिरोधान है और अनाख्या से भासा में आरोहण––इसीका नाम अनुग्रह है। तिरोधान के फलस्वरूप चतुर्दल-कमल का आविर्भाव होता है तथा उससे क्रमशः षोडशदल तक विकसित होता है। इसके विपरीत अनुग्रह के फलस्वरूप षोडश दल से चतुर्दल तक गति होती है एवं उसके बाद अनाख्या के आश्रय से 'भासा' में स्थिति होती है।

भासा में आत्मा अविभक्त और अविभाज्य अव्यय-स्वरूप होती है। यही पुरुष है। अनाख्या में चतुर्दल-प्रकृति में स्थिति होती है। अविभक्त होते हुए भी यह विभाज्य है। प्रमाता-स्थान में अष्टदल-कमल और अमितारूप का प्रकाश। यह विभाज्य और स्वत्त्व-प्रधान है। प्रमाणभूमि में द्वादशदल-कमल। यह मन, बुद्धि, दस इन्द्रिय क प्रवृत्ति-क्षेत्र है। यह रजः प्रधान है। प्रमेय भूमि में षोडशदल-कमल यह तन्मात्रा और भूत का क्षेत्र है। यह तमः प्रधान है।

अनुग्रह-शक्ति के प्रभाव से क्रमशः प्रमेय से प्रमाण, प्रमाण से प्रमाता, प्रमाता से अनाख्या एवं अनाख्या से पूर्ण या भासा में प्रवेश होता है।

पूर्ण और भासा में समग्र विश्व अभेद में विद्यमान रहता है। तिरोधान-काल में वह पृथक् भाव से स्फुरित होता है। इसी का दूसरा नाम प्रकृति अथवा 'शक्तिचक्र' है। एक प्रकार से यही पुरुष से प्रकृति का आविर्भाव है अथवा ब्रह्म से माया का आविर्भाव कहा जा सकता है। तिरोधान का अर्थ आत्मसंकोच या कालचक्र का आविर्भाव है। इसमें प्रतिपद से अमावास्या तक कृष्ण पक्ष है। अमावास्या पूर्ण संकोच का प्रतीक है। इसी अवस्था में चित्कला का सम्पूर्ण आकुञ्चन होता है—मात्र एक ही कला बाकी रहती है—इसी का नाम अमा है।

यहाँ एक बात विचार करने योग्य है। पूर्ण से जिस अनाख्या का आविर्भाव होता है, इसकी प्रणाली विवर्त्त है, अनाख्या से जिस त्रिपुटी का आविर्भाव होता है, उसकी प्रणाली है परिणाम। इसके बाद आरम्भ-क्रिया का अवसर होता है। जागरण से ही अनुग्रह का उदय होता है। इसके बाद शाक्त स्रोत का वर्षण होता है। यह प्रक्रिया अनाख्या तक चलती है। उसके बाद अनाख्या से पूर्ण अथवा भासा में प्रवेश परम अनुग्रह का स्वरूप है। आरम्भवाद जैसे अवरोह-अवस्था में होता है, वैसे ही आणव व्यापार को आरोह के बाद समझना चाहिए। आरोहक्रम में पहले रहती है अपनी चेष्टा। इसका नाम है 'आणव उपाय', उसके बाद शाक्त-स्रोत बहा ले जाता है लक्ष्य है शक्ति या अनाख्या। अनाख्या में जाकर प्रतीक्षा करनी पड़ती है; क्योंकि अपने से पूर्ण या भासा में नहीं जाया जाता। उस स्थिति में पूर्ण खींच लेते हैं, उससे पूर्णत्व-लाभ होता है। अनाख्या से भासा में तभी जाना होता है, जब आत्मा खुद से पकड़ाई देती है। अनाख्या तक अनुग्रह के फल से ऊर्ध्व स्तोत्र के खिंचाव से जाया जाता है। परन्तु अन्त तक ऊर्ध्व स्रोत में भी नहीं जाया जाता। उस तुङ्ग शिखर पर जाकर बैठे रहना पड़ता है, तब वह खींच लेते हैं।

महाशक्ति माँ तुरत खींच ले जाती हैं और इस उपलक्ष्य में आत्मा का रूपान्तर करती है। वह शिवत्व तक पहुँचा देती है। यह विश्व का उच्चतम स्थान है, पर यह विषयी विश्व है। इसके बाद पूर्ण की महाकृपा से विश्वातीत की प्राप्ति होती है, यानी पूर्णत्व-लाभ होता है।

अतएव, अनुग्रह की धारा है शुक्लपक्ष। पूर्णिमा हुई पञ्चदशी। आरोह-क्रम में वही अनाख्या है। अवरोह-काल में शिव थे शक्तिरूप, आरोह-काल में शक्ति होती है शिवरूप। यही शक्ति विश्वरूप धारण करती है। इसीलिए शक्तियुक्त शिव का प्रकाश है—यही युगल पद्म है। इसीलिए पञ्चदशी युक्त है। उसके बाद षोडशी अर्थात् 'अमा' यह युक्त नहीं है, अकेली।

अनाख्या के बाद भासा। इसमें है अनन्त व्यवधान। तिरोभाव के कारण इसमें इस व्यवधान की सृष्टि हुई है। फिर अनुग्रह का उदय होने से यह व्यवधान जाता रहेगा। तिरोभाव के फलस्वरूप काल-राज्य में प्रवेश होता है, अतएव यह जो फाँक है, वह यमुना या कालनदी या कि विरजा है। वैष्णवी भाषा में कहना हो तो पूर्ण हुआ नित्य-वृन्दावन या नित्य-लीलाभूमि, यमुना या कालनदी का पार होना ही पार जाना है, नाविक एक ही हैं, वही पूर्ण है।

आत्मा के जागरण का एक क्रम है। आत्मा अभी माया के आवरण से आच्छन्न सोई हुई है यानी नींद में है। इसलिए उसके आत्मविमर्श नहीं है, इसी के प्रभाव से पिण्डमात्र में उसका अहन्ता रक्षित होता है। इसीका नाम देहाभिमान है। यह तमाम है, इसलिए विश्व-शरीर के रूप में वह अपने को पहचान नहीं पाती, इसलिए उसका जागरण भी नहीं हो सकता।

वास्तव में विशुद्ध आत्मा अनवच्छिन्न चैतन्यरूप और अशुद्ध आत्मा अवच्छिन्न चैतन्य है, जिसे हम ग्राहक कहते हैं। विशुद्ध आत्मा ही वस्तुत: परम शिव है। समग्र विश्व उन्हीं का शरीर है। अनाश्रित शिव से आरम्भ करके पृथ्वी-तत्त्व तक सब उनका शरीर है। अनवच्छिन्न चैतन्य और ग्राहक चैतन्य एक प्रकार का नहीं। शुद्ध चैतन्यरूपी आत्मा किसी निर्दिष्ट रूप में विशिष्ट ग्राह्य की ओर उन्मुख नहीं होती। जो उस प्रकार से उन्मुख होता है, उसी का नाम ग्राहक है।

वह अवच्छिन्न चैतन्य है। उस ग्राह्य से ही उसका चैतन्य या प्रकाश अवच्छिन्न रहता है। अनवच्छिन्न चैतन्य का भान कैसा है? निर्दिष्ट विशेष रूप में उसमें भान नहीं होता। भान होता है सामान्य सत्ता में। इस सामान्य का अनुसन्धान ही उसका स्वभाव है। सर्वत्र अनुगत एक अखण्ड सत्ता का अनुसन्धान ही उसका स्वभाव है। कोई भी आत्मा अपने ग्राहकत्व-निबन्धन, नियम-दर्शन आदि से मुक्त हो सकने पर चैतन्य रूप में अपने को प्रकट कर सकती है। समस्त विश्व वैसे में उसके शरीर-रूप में गण्य होता है।

शुद्ध आत्मा विभिन्न स्तरों में विद्यमान है। किसी आत्मा की अस्मिता विषय से खेलती है, किसी की देह को आश्रय करके, और किसी की इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण अथवा शून्य को आश्रय करके कार्य करती है। शून्य ही सुषुप्ति-रूपी माया है। अहं अभिमान होने के लिए देह ही होना पड़ेगा या दृश्य ही होना पड़ेगा, ऐसी कोई बात नहीं। देहबाह्य विषय में अस्मिता होती है, इसके विपरीत अदृश्य होने से उसमें भी अहं अभिमान हो सकता है। बात दर-असल यह है कि अहं अभिमान की माया है। यह अहं अभिमान की माया है। यह अहं अभिमान चिति या संवित् के ही होता है, ग्राहक के नहीं होता। उसे किसी-किसी पद में धारण किया जाता है। यदि उसे छह अध्वाओं में ही धारण किया जाय तो शिव आदि पृथ्वी तक सभी वस्तुओं का नित्य शुद्ध प्रत्यभिज्ञा के द्वारा अनुसन्धान किया जा सकता है।

एक बात और। जिसमें चिति का दृढ़ अभिनिवेश या अस्मिता रहती है, इच्छा करते ही उसमें क्रिया का उत्पादन किया जा सकता है। अस्मिता अहं आकार में अभिनिवेश-मात्र है। एकमात्र शिव की अस्मिता विश्व में सर्वत्र विद्यमान रहती है; क्योंकि शिव ग्राहक नहीं है अर्थात् अवच्छिन्न प्रकाश नहीं है।

यह जो अहन्ता है, वह बिन्दु से शरीर तक को घेरे हुए हैं। बिन्दु है स्वरसवाही सामान्यभूता सूक्ष्म अहं-प्रतीति, जो ग्राहक, ग्रहण, ग्राह्य आदि प्रतीति-विशेष की पूर्ववर्त्ती है। प्राण है उस सत्ता या अणु का नाम, जो अभिमान, अध्यवसाय आदि अन्तःकरण का क्षोभकारी है। शक्ति है बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रिय और शरीर-रूप में प्रसिद्ध। बिन्दु से शरीर तक छह को घेरकर कम्पित करता है जो अहन्ता, उसीकी धारणा चाहिए। भावना के द्वारा इस अहन्ता का विकास होता है। इसी का नाम है—कर्त्तृत्व, ईश्वरत्व, स्वातन्त्र्य, चित्स्वरूपता आदि। सिद्धि मात्र ही अहन्तामय है, इसलिए दृढ़ प्रत्यय होना आवश्यक है।

(४)

सुप्त प्रमाता की प्रतीति कैसी है? यह माया-मोहित है। ग्राहक चिदात्मक तथा ग्राह्य अचिदात्मक और उससे भिन्न रूप में प्रतीत। समग्र विश्व भुवनावली यद्यपि पूर्ण या प्रकाश के अन्तर में स्थित है, फिर भी सुप्त आत्मा सोचती है कि वह उससे बाहर है। ये आत्माएँ भवी नाम से वर्णित होती है।

जाग्रत्कल्प प्रमाता की प्रतीति किस प्रकार की है? इसका दूसरा नाम भवपदी है। शुद्ध विद्यारूपी प्रमाता एवं संप्रज्ञता समाधि-प्राप्त प्रमाता इसी के अन्तर्गत है। ये ठीक-ठीक सुप्त नहीं, मगर ठीक जाग्रत् भी नहीं। सुप्त नहीं है, इसलिए कि इनका भव या संसार नहीं है। चूँकि इनके भेदज्ञान नहीं यानी अभिन्न वस्तु में भिन्न

प्रतीति नहीं है। परन्तु इसके बावजूद इनकी अवस्था उद्‌भव है। लेकिन भव अर्थात् भेदज्ञान नहीं रहने पर भी उसका संस्कार इनके चित्त में मौजूद है; क्योंकि अन्तःसंकल्प आदि आकार में भिन्न-सी प्रतीति शुद्ध विद्या के प्रभाव से अथवा संप्रज्ञात समाधि के कारण हो सकती है। इस अवस्था में अविवेक रहता है। इसके बाद विवेकख्याति का उदय होता है और बाद में शुद्ध सत्ता का आविर्भाव होता है। यह अवस्था ठीक स्वप्न-जैसी है। सुप्ति नहीं है, परन्तु ठीक-ठीक जागरण भी नहीं हुआ है। ठीक-ठीक जागरण होने से भेद का संस्कार रहना सम्भव नहीं होता। यह सब आत्मा धर्माधर्म के क्षय से किसी-किसी दृष्टि के अनुसार मुक्त पुरुष के रूप में गिनी जाने के बावजूद प्रकृत मुक्तपुरुष नहीं है। तन्त्रशास्त्र में इन्हें रुद्र-अणु के रूप में वर्णित किया गया है। वास्तव में ये भी पशु हैं। कर्म-संस्कार से रहित होते हुए भी संवित् श्रवण का इन्हें अधिकार नहीं।

इसके बाद जाग्रत् अथवा प्रबुद्ध प्रमाता की अनुभूति की बात कही जा रही है। इन आत्माओं में भेद और अभेद का संस्कार मौजूद रहता है। ये आत्माएँ जड़ वस्तु का इदं रूप में अनुभव करती हैं और इसके विपरीत अहं वस्तु की प्रतीति भी अहं रूप में रहती है। समानाधिकरण्य के कारण अभेद का आरोप होता है, इसलिए भेदांश ढक जाता है और 'इदं-अहं' रूप अनुभव का उदय होता है। इनके अनुभव में समग्र विश्व अपने शरीर-रूप में प्रतीयमान होता है। इस अवस्था में दो अनुभव समान रूप से रहते हैं। इसे ईश्वर-अवस्था कहते हैं।

सुप्रबुद्ध कल्प और सुप्रबुद्ध प्रमाता के बारे में कहें। इस अवस्था में इदम्-प्रतीति का विषयीभूत ज्ञेय पदार्थ अहं रूपी स्वरूप में निमग्न होकर प्रकट होता है। यह निमेष-रूप में वर्णित होने योग्य है।

ये आत्माएँ अभेद-ज्ञान या कैवल्य की प्राप्ति के कारण उद्‌भवी रूप में वर्णित होती है। ये अहंरूप स्वरूप में मग्न रहती है। यह अवस्था अहंभाव से आच्छादित अस्फुट इदंभाव की दशा है, इसे सदाशिव-अवस्था माना जा सकता है। लेकिन यह याद रखना है कि यह भी आत्मा की पूर्ण स्थिति नहीं। इसके बाद पूर्णस्थिति का उदय होता है, पर वह अस्थायी है। इस अवस्था में निमेष और उन्मेष दोनों ही रहते हैं। समुद्र में तरङ्ग आदि के 'निमेष-उन्मेष' जैसे दोनों ही रहते हैं, यह भी बहुत कुछ वैसा ही है। प्रकाश सदा रहता है, परन्तु शिव आदि विश्व का भान कभी रहता है, कभी नहीं रहा। जब भान रहता है, तब प्रकाशात्मक रूप में ही उसका उन्मेष होता है। जब भान नहीं रहता, तब भी प्रकाश-रूप में ही उसका निमेष होता है।

इसके बाद वास्तविक पूर्णत्व का आविर्भाव होता है। यही स्थायी अवस्था है। पहले जिस पूर्णत्व की अभिव्यक्ति हुई थी, उसमें प्रकाश और निमेष का सम्बन्ध था। पर अब वह नहीं है। इसका कारण यह है कि पहले मन था, इसलिए निमेष और उन्मेष होता था। लेकिन अब वह नहीं है। अभी की अवस्था ठीक उन्मना है। उन्मना है, इसलिए पूर्णात्मा की सिद्धि अचल है। इसीका नाम सिद्ध सुप्रबुद्ध अवस्था है। ऐसे योगी की इच्छा-मात्र से अभिमत विभूति का आविर्भाव होता है। यही आत्मा के पूर्ण जागरण की अवस्था है।

(५)

अब विभूति या सिद्धि के विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ कहना है। सिद्धि नाना प्रकार की हो सकती है। कोई-कोई सिद्धि अर्थमूलक होती है। यह सब निम्नस्तर की सिद्धि या अपरा सिद्धि है। कोई-कोई सिद्धि

तत्त्वमूलक होती है। ये उच्च स्तर की या परासिद्धि है। प्रत्येक अर्थ का एक कर्म है। इसे Cosmic function कहा ज़ा सकता है। नित्यसिद्ध योगी जब जिस अर्थ में आत्म-भावना करता है, वह उस समय उस अर्थ में स्वयं ही अवस्थित होता है और उसी समय उस कर्म का निर्वाह होता है। सूर्य, चन्द्र, विद्युत, मेघ, वज्र, समुद्र, पर्वत आदि प्रत्येक का जो अर्थ क्रियाकारित्व है, योगी उसे इस समय प्राप्त कर सकता है। जो देवता जिस अर्थ या प्रयोजन का सम्पादन करता है, इच्छा करने से उस देवता में अहं अभिमान धारण कर पाने से क्षण में स्वयं ही फूट उठता है। इस प्रकार योगी पृथ्वी से शिवत्व तक अहंभाव में अभिनिवेश-निबन्धन तत्-तत् सिद्धि प्राप्त करता है। माया तक जिस-जिस सिद्धि का उदय होता है, उसका नाम गुहान्त-सिद्धि है। ये अपरा सिद्धि है यानी निम्न स्तर की सिद्धि है। सरस्वती या शुद्ध विद्या आदि सिद्धियाँ परासिद्धि है। ये उच्चस्तर की सिद्धियाँ हैं। इसके बाद सर्वसिद्धि के ऊपर दो महासिद्धियाँ हैं।

पहली महासिद्धि है सकलीकरण। कालाग्नि के समान तीव्र ज्वाला से छह अध्वारूपी पाश दग्ध होते हैं। उसके बाद अमृत-धारा का आप्लावन होता है। उस समय इष्टदेवता का दर्शन होता है। इस अवस्था में शोधित समग्र अध्वा का अर्थात् समस्त विश्व का गुरुपद में वरण होता है। वह जगद्गुरु है, समस्त विश्व के अनुग्राहक। यह भी लेकिन अपूर्ण ख्याति है। इसके बाद जो दूसरी महासिद्धि है, वही पूर्ण ख्याति अर्थात् परम शिवत्व-लाभ है। इस अवस्था में उनकी अपनी इच्छा के अनुसार भुवन आदि की सृष्टि का अधिकार उत्पन्न होता है। परमशिव का पञ्चकृत्यकारित्व सदा मौजूद रहता है। स्मरण रखना है, मुक्त शिव-मात्र ही परम शिव से अभिन्न होने के नाते पञ्चकृत्य सम्पादन के अधिकारी हैं। परन्तु अधिकारी होते हुए भी वे कृत्य का सम्पादन नहीं करते।

यहाँ पर एक रहस्य का इशारा-भर करेंगे। सिद्ध अवस्था में ऐसी एक स्थिति है, जब योगी इच्छा-शक्ति की उपेक्षा करके भक्ति की ओर उन्मुख होते हैं। जब तक इच्छा-रूप में इच्छा-शक्ति मौजूद रहती है, तब तक लक्ष्य बाहर की ओर रहता है। परन्तु, इच्छा अन्तर्मुख होते ही भक्तिरूप में परिणत होती है। उस समय योगी भक्त कुछ नहीं चाहते। मात्र उन्हीं को चाहते हैं। किसी प्रयोजन की सिद्धि उनका उद्देश्य नहीं होता, फिर भी उन्हें चाहे बिना नहीं रह सकते। शङ्कराचार्य ने कहा है—**'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवैवाहं'** आदि। यह वही अवस्था है। इसीको *श्रीमद्भगवद्गीता* में 'ज्ञानी भक्त' कहकर वर्णन किया गया है। यही श्रेष्ठ भक्त है; क्योंकि यह नित्ययुक्त और एकभक्त है।

(तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त से साभार)

पुराणों में निरूपित शक्तितत्त्व की दार्शनिक एवं वैज्ञानिक व्याख्या

महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

परब्रह्म परमात्मा का जो दूसरा रूप, जो अव्यक्त बताया है, उसे ही प्रकृति नाम से भी कहा जाता है। वह प्रकृति पुरुष की शक्ति है। *विष्णुपुराण* के द्वितीय अध्याय में नाममात्र से सब सृष्टि का वर्णन कर तृतीयाध्याय के प्रारम्भ में ही मैत्रेय (श्रोता) का यह प्रश्न है कि जिस प्रकार का मूलतत्त्व का वर्णन किया गया, वैसे मूलतत्त्व-रूप ब्रह्म से सृष्टि किस प्रकार हो सकती है?[१] सृष्टि होने का अर्थ तो है विकार होना; क्योंकि सृष्टि के सब पदार्थ एक-दूसरे के विकार-रूप देखे जाते हैं, जैसा कि दूध का विकार दही-रूप से प्रकट होता है। एक ही वृक्ष से फल, पुष्प आदि कई प्रकार के विकार प्रकट होते हैं, जिसमें कोई विकार ही नहीं होता, उससे नये-नये पदार्थ कैसे पैदा होंगे?[२] इसका उत्तर वक्ता पराशर ऋषि ने यह दिया कि प्रत्येक पदार्थ में एक प्रकार की शक्ति होती है, जैसे कि अग्नि में जलाने की शक्ति है, वैसे ही मूल रूप परब्रह्म में भी सृष्टि, पालन और संहार की शंक्तियाँ हैं। इन शक्तियों का कार्य देखकर ही ज्ञान होता है। कार्य देखने के पूर्व किस पदार्थ में क्या-क्या शक्ति है, यह कोई नहीं पहचान सकता। हम मार्ग में चलते हैं, उस समय कई प्रकार की घासें हमारे सामने आती हैं, किन्तु उनमें क्या-क्या शक्ति है, यह उन घासों के दर्शन-मात्र से हमें नहीं प्रतीत होता। जब उनमें से ही वैद्य के प्रयोग से कई रोगियों को अच्छा होता हुआ देखें या उनसे बनाई हुई रस्सी से जन्तुओं का बन्धन देखें, तभी यह प्रतीत होता है कि इसमें ऐसी शक्ति थी। इसी प्रकार, यह शक्ति शक्तिमान् से भिन्न है या अभिन्न, यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि भिन्न हो, तब तो उस घास से अन्यत्र भी उसकी सत्ता कभी मिलनी चाहिए, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता और यदि घास-रूप ही वह शक्ति है, तो जब हमने घास देखी, तभी उसका भी ज्ञान हो जाना चाहिए था; किन्तु कहा जा चुका है कि बिना कार्य देखे उस शक्ति का ज्ञान नहीं होता। यह दूसरी बात है कि जिन्होंने कई बार उसके कार्य देखे हैं, उन्हें दर्शन-मात्र से ही उन कार्यों का स्मरण हो आये; किन्तु प्रथम दर्शन के समय में कोई भी उसकी शक्तियों को नहीं पहचान सकता। यदि घास और शक्ति एक ही होती, तो देखने से जैसे घास का ज्ञान हुआ, वैसे ही शक्तियों का भी ज्ञान हो जाता। इस प्रकार, शक्तिमान् से शक्ति का भेद, है या अभेद, यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। सुतराम्, उन शक्तियों को अनिर्वचनीय कहना पड़ता है। अनिर्वचनीय शब्द का अर्थ यही है कि जो तत्त्व स्पष्ट रूप से न कहा जा सके। मूल श्लोक में इसका उदाहरण दिया है कि जैसे अग्नि में गरमी या जलाने की शक्ति। इस अनिर्वचनीय शक्ति की पृथक् रूप से गणना नहीं होती, इसीलिए 'मूलतत्त्व एक ही है', इस श्रुति के सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती। अग्नि को देखकर यहाँ 'अग्नि और उष्णता' नाम के दो पदार्थ हैं, ऐसा कोई नहीं कहता, अपितु अग्नि की सत्ता में ही उसकी शक्ति की सत्ता भी अन्तर्गत हो जाती है। जहाँ सत्ता का भेद हो, वहीं 'द्वैत', अर्थात् भेद-व्यवहार होता है। जहाँ एक ही सत्ता क्रम से अनेक पदार्थों में अनुगत होती

जाय, वहाँ भेद-व्यवहार नहीं होता। इस कारण मूल तत्त्व को श्रुति, स्मृति आदि में एक ही कहा जाता है और इस शक्ति को श्रुति या पुराणों में माया शब्द से कहा गया है। माया शब्द का मुख्य अर्थ होता है कि 'मा', अर्थात् मिति—परिच्छेद (limit) करने वाली। मूल तत्त्व अनन्त अपरिच्छिन्न सर्वव्यापक है, किन्तु यह शक्ति उसे परिच्छिन्न रूप में दिखा देती है। वस्तुतः, मूलतत्त्व अपरिच्छिन्न ही रहता है, किन्तु उसमें शक्ति के द्वारा परिच्छेद-सा दीखने लगता है। जिस प्रकार अनन्त रूप आकाश में हम अपना मकान या उनका समूह-रूप ग्राम या नगर बना लेते हैं, तो हमारे मकान, ग्राम या नगर का आकाश उस अनन्त आकाश से विभिन्न-सा दिखाई देने लगता है, इसी प्रकार का परिच्छेद यह शक्ति मूलतत्त्व में दिखाई देती है और जिसकी कोई भी सत्ता नहीं, उसे दिखा देने के कारण माया शब्द का इन्द्रजाल आदि में भी प्रयोग कर दिया जाता है।

श्रीभागवत में तृतीय स्कन्ध के पञ्चम अध्याय में विदुर और मैत्रेय के संवाद में प्रश्नोत्तर द्वारा इस शक्ति के विवरण पर अधिक प्रकाश डाला गया है। वहाँ विदुर का प्रश्न है कि भगवान् की शक्ति मानने पर भी अविकृत मूल तत्त्व से सृष्टि का बनना समझ में नहीं आ सकता। प्रथम तो प्रश्न यही उठता है, जब परब्रह्म रूप मूलतत्त्व निर्विकार और निष्काम है, तब वह सृष्टि बनाता ही क्यों है। दर्शनशास्त्रों में इसका उत्तर दिया जाता है कि सृष्टि, प्रलय आदि परब्रह्म के विनोद-मात्र हैं। हमें ये कार्य बहुत भारी मालूम होते हैं, किन्तु अनन्त शक्ति परब्रह्म के लिए यह एक खेल-सा ही है। जैसे एक बालक कई प्रकार के खिलौने बनाया करता है, वैसे परब्रह्म अनन्त सृष्टि भी कर देता है। अथवा जैसे कोई बड़ा रईस अपने हाथ में एक पुष्प लेकर अङ्गुलियों से उसे घुमाता रहता है, उसमें किसी को प्रयोजन जानने की इच्छा नहीं होती, वैसे सृष्टि आदि परब्रह्म के विनोद-मात्र हैं; किन्तु यह दर्शनों का उत्तर भी यहाँ पूरा नहीं बैठता। बालक भिन्न-भिन्न खिलौने बनाता है या खेल खेलता है, वह इसलिए कि उसके मन में चञ्चलता है। उस चञ्चल मन की प्रेरणा से उससे ये काम हुआ करते हैं। रईस यदि पुष्प घुमाता है, तो उसके मन में भी बैठे-बैठे एक प्रकार की अरुचि-सी हो जाती है। उसे हटाने के लिए ही वह ऐसे विनोद करता है, किन्तु परब्रह्म में तो बालक-की सी चञ्चलता या रईस की-सी अरुचि नहीं कही जा सकती। वह तो नित्य शान्त और आनन्द-स्वरूप एवं नित्य तृप्त है। फिर, उसकी सृष्टि बनाने में प्रवृत्ति ही क्यों हुई?

कई दर्शनकार यह भी उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार एक राजा अपनी प्रजा के पुरुषों पर निग्रह-अनुग्रह करता रहता है, अर्थात् अपराधियों को दण्ड और सदाचारियों को पारितोषिक देता रहता है, उसी प्रकार परमेश्वर भी अपनी सब प्रजा को अपने कर्मफलों का भोग कराने के लिए सृष्टि करता है, किन्तु यह भी उत्तर ठीक नहीं उतरता। राजा अपनी प्रजा पर सदा ही प्रभुत्व बनाये रखना चाहता है, इसीलिए अपनी सुव्यवस्था बताने को उसे निग्रह-अनुग्रह करने पड़ते हैं। किन्तु, परब्रह्म तो निष्काम है, उसे अपनी प्रजा पर शासन बनाये रखने की भी कोई इच्छा नहीं, फिर वह निग्रह-अनुग्रह भी क्यों करे? कदाचित् कहें कि कृपावश ऐसा करता है, तो यह भी नहीं बन सकता। किसी दुःखी का दुःख हटाने की प्रवृत्ति ही कृपा है। जब सृष्टि के पहले किसी प्राणी को दुःख या सुख है ही नहीं, तब उसके हटाने की प्रवृत्ति भी क्यों होगी? इस प्रकार सृष्टि, प्रलय आदि करने का कोई भी प्रयोजन समझ में नहीं आता। इसके अतिरिक्त जिस शक्ति को परब्रह्म में मायारूपा आप

मानते हैं, उस शक्ति के साथ परब्रह्म का क्या सम्बन्ध है, यह भी बुद्धि में नहीं बैठता। आधार-आधेय भाव या तादात्म्य दो ही प्रकार के सम्बन्ध सम्भव हो सकते हैं, अर्थात् या तो यह मानिए कि ब्रह्म में वह शक्ति रहती है अथवा उल्टे रूप में मानिए कि शक्ति में ब्रह्म रहता है अथवा यों मानिए कि शक्ति और ब्रह्म एक ही हैं; किसी भी तरह बात बन नहीं सकती। परब्रह्म को जब अपरिच्छिन्न कहा जाता है, अर्थात् कोई देश-काल उससे रहित नहीं, तब शक्ति को रहने का स्थान ही कहाँ मिलेगा और उलटी बात तो बन ही नहीं सकती; क्योंकि छोटी वस्तु बड़ी में रह सकती है। सर्वत्र रहने वाला व्यापक ब्रह्म परिच्छिन्न शक्ति में रह ही कैसे सकता है? तादात्म्य, अर्थात् दोनों एक ही हैं, यह बात भी नहीं बनती; क्योंकि दोनों के स्वभाव अत्यन्त विरुद्ध बताये जाते हैं। ब्रह्म चेतन है, शक्ति जड़ है। वह उसी की चेतनता से चेतन प्रतीत होती है। ब्रह्म अपरिच्छिन्न है, शक्ति परिच्छिन्न। ब्रह्म एक है, शक्ति भिन्न-भिन्न माननी होगी; क्योंकि कभी सृष्टि होती है, कभी प्रलय होता है। स्थिति-दशा में भी कभी शीत है, कभी गरमी और कभी वर्षा। इस प्रकार, जब कार्यभेद देखते हैं, तब इनकी कारण-रूपा शक्ति में भी भेद मानना आवश्यक ही होगा। तब, इस प्रकार भिन्न स्वभाव वाले तत्त्वों को एक कौन मान सकता है? क्या प्रकाश और अन्धकार एक ही है, यह किसी की बुद्धि में आ सकेगा? सुतराम्, शक्ति का परब्रह्म के साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त द्वैतवाद में जीवों को भी आप परब्रह्म का रूप ही कहते हैं और जीवों में भिन्न-भिन्न धर्मों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। कोई जीव सुखी है, कोई दुःखी। कोई इच्छाओं से व्याकुल है, किसी को कोई इच्छा नहीं होती है। कोई शान्त है, कोई क्रोधी, यह सब भेद एक ही ब्रह्म में माने जायेंगे, तो फिर उसे एक कैसे कहा जाय? इस प्रकार, कोई भी बात बनती नहीं, तब एक मूल तत्त्व जगत् को कैसे मान लिया जाय?

विदुर का यह प्रश्न-प्रपञ्च सुनकर वक्ता मैत्रेय ऋषि यही उत्तर देते हैं कि भाई, तर्क से कोई बात नहीं बन सकती, यह ठीक है; किन्तु भगवान् की वह मायाशक्ति अचिन्त्य कार्य करने वाली है। माया का अर्थ ही यह है कि जो तर्क से उपपन्न न होने वाली घटनाओं को भी करके दिखा दे। इसे ही 'अघटितघटनापटीयसी' कहते हैं। माया के अंशभूत स्वप्न में भी हमें जीवों को तर्क से न उपपन्न होने वाली घटनाओं का दर्शन सदा होता रहता है। स्वप्न में मनुष्य अपना शिरश्छेदन भी देखता है। बिना शस्त्र के शिरश्छेदन कैसे हो गया? शस्त्र वहाँ कहाँ से आया? या अपना शिरश्छेदन होने पर हम जीवित ही न रहे, तब शिरश्छेद देखा किसने? इत्यादि बातें तर्क से नहीं बन सकतीं। अपना उड़ना जहाँ हम देखते हैं, वहाँ बिना पङ्ख के उड़ना कैसे सम्भव हो गया? यह सब अघटित घटना है। जब जीव नित्य देखता रहता है, तब सबकी मूलभूत भगवान् की मात्रा में तर्क से सन्देह करना निराधार ही है। इसी अभिप्राय से पुराणादि में सर्वत्र कहा गया है कि जो भाव विचार में नहीं आ सकते, उन पर तर्क नहीं करना चाहिए?[३] वेदान्त के '*पञ्चदशीग्रन्थ*' में भी कहा गया है कि—

एतस्मात् किमिवेन्द्रजालमपरं यद्गर्भवासस्थितम्,
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानाङ्कुरम्।
पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरावेशैरनेकैर्वृतम्
पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति।। — *चित्रदीप, श्लोक ४७*

इसका अर्थ है कि इससे अधिक और क्या इन्द्रजाल होगा कि बिन्दु-रूप एक वीर्यकण गर्भ में जाकर चेतन बन जाता है, क्रमश: उसमें हाथ, पैर, कान, नाक, मस्तक आदि सब अवयव भी निकल जाते हैं। उसी की बाल्य, कौमार, यौवन, वृद्धत्व आदि अवस्थाएँ भी हो जाती हैं। खाना, पीना, देखना, सुनना, स्वाद लेना, सूँघना आदि सब व्यापार भी वह करने लगता है और चलना, फिरना आदि व्यापार भी उसी के प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। ये घटनाएँ हम सदा देखते रहते हैं, किन्तु नित्य-नित्य देखने के कारण ये ऐसी अभ्यस्त हो गई है कि इन पर कोई असम्भावना या विपरीत भावना का उदय ही नहीं होता।

कदाचित् कोई पुरुष हठ करे कि बुद्धि में न आने वाली बात को हम किस तरह मान लें? तो बात बुद्धि में नहीं आती, उसे छोड़ देना चाहिए और कोई मार्ग ही क्यों न अपनाया जाय, जो तर्क से सम्मत हो। इसके उत्तर में हम उनसे कहेंगे कि कोई भी बात आप बताइए, जो जगत् की सृष्टि का तर्कसम्मत उपपादन कर दे। जिन्होंने तर्क से उपपादन का अभिमान किया, उन सबकी परीक्षा वेदान्त-दर्शन में सूत्रकार और भाष्यकार ने अच्छी तरह कर दी है। जब कोई भी बात बुद्धि की परीक्षा में ठीक-ठीक नहीं उतरती, तब त्रिकालज्ञ महर्षियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा निश्चय करके जो कुछ कहा है, उसे ही मानना उचित होगा। वर्तमान के वैज्ञानिक विद्वान् भी इस वस्तु से यह वस्तु बन जाती है, इतना ही बताते हैं, क्यों बन जाती है, इसका उपादान वे भी नहीं कर सकते। ऑक्सीजन और हाइड्रोजन मिलकर जल बन जाता है, यह वे कह देंगे, किन्तु जल में मनुष्य को तृप्त करने वाली 'अप्यायन-शक्ति' कहाँ से आ गई, इसका पूर्ण रूप से उपपादन वे भी नहीं कर सकते। अन्त में कई कक्षाओं के बाद सबको ही अचिन्त्यवाद की शरण लेनी पड़ती है। पाश्चात्य विद्वान् हर्बर्ट, स्पेन्सर आदि के 'अज्ञेयवाद' में और हमारे दर्शनों के 'अज्ञेयवाद' में इतना ही भेद है कि वे आरम्भ से ही अज्ञेय बताकर उसमें बुद्धि-प्रवेश को ही रोकते हैं, किन्तु हमारे दर्शनशास्त्र जहाँ तक बुद्धि चल सकती है, वहाँ तक विचार कर जहाँ बुद्धि रुक जाती है, वहाँ पहुँचकर अज्ञेयवाद की शरण लेते हैं। मूल तत्त्व के विषय में अन्त में तो अज्ञेयवाद सबको ही मानना पड़ता है। बात भी ठीक है, हमारे शरीर में रुधिर के एक-एक बिन्दु में बहुत-से कीटाणु हैं, यह वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है। वह एक-एक कीटाणु हमारी इच्छा और कर्मों के विषय में क्या जान सकता है। बस, हमारे एक-एक कीटाणु की जो परिस्थिति हमारे शरीर के विषय में है, वही या उससे भी गई बीती परिस्थिति हमारे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के विषय में है। तब हम भी ब्रह्माण्ड के मूलतत्त्व के सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय किस प्रकार कर सकते हैं। जहाँ तक बुद्धि चले, वहाँ तक सोचना, आगे बुद्धि के पारङ्गत ऋषि-मुनियों की बात मानना, यही हमारा कर्त्तव्य है। इससे बड़ा लाभ यह होगा कि हम भगवान् पर विश्वास कर उसीसे जब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति आदि मानकर उनकी उपासना (भक्ति) में निरन्तर निमग्न रहेंगे, तब उनकी कृपा से हमारी बुद्धि शुद्ध होकर इस भगवन्माया से हमारा पीछा छूट जायगा और यह सब संसार का झंझट सदा के लिए विलीन हो जायगा। यदि आरम्भ में ही अज्ञेयवाद मानकर बैठे रहेंगे, तो सदा ही इसी प्रकार माया के चक्र में फँसे रहेंगे। कभी उद्धार प्राप्त न होगा। इसी अभिप्राय से श्रुति-पुराणादि ने हमें सृष्टि आदि के तत्त्व समझाने का प्रयत्न किया है। अस्तु; श्रीभागवत में यहाँ मायावाद का ही प्रतिपादन किया गया। यह विस्तार से दिखाया गया। मायावाद के अत्यन्त विरोधी श्रीवल्लभाचार्य ने भी

अपनी *सुबोधिनी व्याख्या* में इस प्रकारण में विदुर की शङ्काओं का समाधान मायावाद से ही मैत्रेयी ऋषि ने किया, यह स्पष्ट माना है। इसका कारण उन्होंने यह बताया है कि विदुर दासी-पुत्र होने के कारण ब्रह्मवाद के अधिकारी न थे, इसलिए मायावाद से ही समाधान करना मैत्रेय ने उचित समझा। यह बड़े आचार्य की उक्ति होने पर भी हमारी बुद्धि में नहीं बैठती। यदि मैत्रेय विदुर को अनधिकारी समझते थे, तब तो उन्होंने स्पष्ट निषेध ही क्यों न कर दिया कि हम तुम्हें उपदेश नहीं देंगे और यदि उपदेश दिया, तो फिर सत्यमार्ग का ही उपदेश देना ऋषि का धर्म था। अन्य असन्मार्ग बताकर प्रतारण कर देना ऋषि के लिए शोभा नहीं देता। इस प्रकरण के निरूपण से *श्रीभागवत* को भी मायावाद ही इष्ट है, यही सिद्ध होता है। मायावाद का तात्पर्य यही है कि अविकृत मूलतत्त्व में ही जीव अपने अज्ञानवश भिन्न-भिन्न प्रकार के जगत् को मायावश देख लेते हैं, वस्तुत: मूलतत्त्व में शक्ति के द्वारा कोई विकार नहीं होता। वह सदा अविकृत रूप में ही रहता है। यही बात *विष्णुपुराण* में भी आरम्भ में ही स्पष्ट कही गई है कि—

ज्ञानस्वरूपमत्यन्तं निर्मलं परमार्थत:।
तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनत :स्थितम्।। — *विष्णुपुराण*, २.५६

अर्थात्, भगवान् विष्णु का स्वरूप विशुद्ध निर्मल ज्ञानमय है, किन्तु अज्ञानवश जीव उसे भिन्न-भिन्न अर्थों के रूप में देखा करते हैं। इस पूर्व वाक्य के साथ एकवाक्यता करने के लिए आगे जो अव्यक्त रूप से भगवान् का प्रादुर्भाव बताया है, वहाँ अव्यक्त शब्द से मायाशक्ति को ही लेना उचित होगा।

परब्रह्म की जिस शक्ति का विस्तार से इतना विवरण हमने किया, उसे ही माया, अव्यक्त, प्रकृति, प्रधान आदि शब्दों से कहा जाता है। कहीं इस शक्ति को परब्रह्म के समान, नित्य ही माना है और कहीं-कहीं इसे परब्रह्म से उत्पन्न होने वाली भी कहा है और *वायुपुराण* आदि में कहीं उस प्रकृति को ही मूल तत्त्व मानकर उसी से सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति बतलाई गई है। किन्तु, वर्तमान सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति को स्वतन्त्र रूप पुराणों में कहीं नहीं माना गया। जहाँ भी प्रकृति से ही सृष्टि कही गई है, वहाँ भी परब्रह्म के इच्छानुसार ही वह सृष्टि करती है, यह स्पष्ट कहा गया है। इन भिन्न-भिन्न उक्तियों का तात्पर्य यह प्रकट होता है कि परब्रह्म में वह शक्ति, अव्यक्त, अर्थात् अप्रकट रूप से सदा वर्तमान रहती है। जब सृष्टि की इच्छा परब्रह्म परमात्मा को होती है, तब वह शक्ति जाग उठती है। इसीलिए *पद्मपुराण*, सर्गखण्ड आदि में उसकी उत्पत्ति परब्रह्म से बतला दी गई। उत्पत्ति का अर्थ वहाँ यही समझना चाहिए कि शक्ति उनकी इच्छा से प्रकट होकर अपने काम में लग गई और जहाँ प्रकृति से ही सृष्टि बतलाई, किन्तु उसे परमात्मा के इच्छानुसार ही सृष्टि करने वाली कहा गया, वहाँ भी यही अभिप्राय समझना होगा कि सृष्टि करने में मुख्य भाग प्रकृति ही लेती है। परब्रह्म तो उसका प्रेरक मात्र ही रहता है। *विष्णुपुराण* में तो उस शक्ति को अव्यक्त नाम से परमात्मा के चार रूपों में से एक रूप ही बतलाया गया। इसका अभिप्राय स्पष्ट रूप से वहाँ विवृत भी किया है कि वह अव्यक्त स्वतन्त्र नहीं है, भगवान् का ही एक रूप है, अर्थात् भगवान् ही शक्ति-रूप से प्रकट होकर जगत् की सृष्टि आदि कार्य करते हैं। शक्ति का सर्वथा अभेद भगवान् के साथ नहीं बन सकता, यह विस्तार से कहा

जा चुका है। इससे वह शक्ति परब्रह्म से अभिन्न है या भिन्न, यह निर्वचन नहीं हो सकता। इस अनिर्वचनीयवाद में ही इसका तात्पर्य समझना होगा।

शक्ति की दार्शनिक व्याख्या

संसार के पदार्थों में जो भिन्न-भिन्न शक्तियाँ कार्य देखकर अनुमान द्वारा जानी जाती हैं, उनका निरूपण प्राय: सभी दर्शनों में किया गया है। उस दार्शनिक प्रक्रिया का संक्षेप से दिग्दर्शन करा देना भी यहाँ अनुचित न होगा। इसलिए, संक्षेप से वह प्रक्रिया भी लिख दी जाती है। मीमांसा-दर्शन में शक्ति नाम का एक ही अतिरिक्त पदार्थ माना जाता है। इसके अतिरिक्त मानने में उनकी युक्ति यह है कि जो पदार्थ जिसका कारण माना जाता है, उस कारण के रहते भी कहीं-कहीं कार्य की उत्पत्ति नहीं दिखाई देती। इसका उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों में यही मिलता है कि अग्नि दाह का कारण है, किन्तु चन्द्रकान्त मणि रख देने पर अग्नि से दाह नहीं होता। यह चन्द्रकान्त मणि की बात आज के संसार में अप्रसिद्ध है, इसलिए इसे यों समझिए कि फल-पुष्प आदि देने वाले वृक्षों में कोई घुन, कीट आदि रोग लग जाने पर उनसे फल, पुष्प नहीं उत्पन्न होते। जब आम्र का वृक्ष हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है, किन्तु मञ्जरी वा फल वह नहीं देता, तब केवल आम्र के वक्ष को ही मञ्जरी, फल आदि का कारण नहीं कहा जा सकता। कार्य-कारण-भाव का निश्चय शास्त्रों में अन्वयव्यतिरेक से किया जाता है। जिसके रहने से जो वस्तु पैदा हो, वह अन्वय है और जिसके न रहने से जो पैदा न हो वह व्यतिरेक। इस अन्वय और व्यतिरेक से ही कार्य-कारण-भाव का निश्चय किया करते हैं। जब आम्रवृक्ष के रहने पर भी मञ्जरी, फल आदि पैदा नहीं होते, तो केवल आम्रवृक्ष को ही मञ्जरी, फल आदि का कारण नहीं कहा जा सकता। किन्तु, उसमें रहनेवाली एक शक्ति है, जो मञ्जरी, फल आदि को उत्पन्न करती है। वृक्ष में कोई रोग लग जाने पर उस शक्ति का नाश हो जाता है, तो फल आदि नहीं उत्पन्न होते। किसी-किसी रोग से वह शक्ति न्यून हो जाती है, तो फल आदि अल्पमात्रा में उत्पन्न होते हैं। वृक्ष के एक-सा दीख पड़ने पर भी कार्यों की न्यूनाधिकता या सर्वथा अभाव देखने से शक्ति का अनुमान स्पष्ट रूप से हो जाता है। इस प्रकार, शक्ति को अतिरिक्त मान लेने पर भी वह अपने आश्रय, अर्थात् शक्तिमान् से भिन्न है या अभिन्न, यह प्रश्न बना ही रहेगा। इसका उत्तर अन्ततः यही देना होगा कि वह न सर्वथा अभिन्न ही है; क्योंकि वृक्षादि के रहने पर भी उस शक्ति की न्यूनाधिकता या अभाव देखने में आता है, और न सर्वथा भिन्न ही कहा जा सकता है; क्योंकि उस वृक्ष के बिना वह शक्ति कभी नहीं मिलती, इसलिए भेदाभेद ही मानना पड़ेगा और भेद और अभेद दोनों सम्भव नहीं। इसलिए, अनिर्वचनीयता में ही पर्यवसान होगा, अर्थात् यही कहना होगा कि भेद या अभेद निश्चित रूप से नहीं कहे जा सकते।

न्यायशास्त्र ऐसी अनन्त शक्तियों की कल्पना और बार-बार उनका उत्पन्न होना और विनष्ट होना मानने में परम कल्पना-गौरव का दोष बताता हुआ शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानता। पूर्वोक्त जो दोष वृक्ष रहते हुए भी फल आदि उत्पन्न न होने का दिया गया था, उसका समाधान न्यायशास्त्रय ही करता है कि प्रत्येक पदार्थ एक ही कारण से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु कई सहकारी कारण भी कार्य की उत्पत्ति में होते हैं।

वे जब सब जुट जाएँ, तभी कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे आम्रमञ्जरी या आम्रफल पैदा होने में केवल आम्रवृक्ष ही कारण नहीं, किन्तु उपयुक्त जल का सेचन, बसन्त ऋतु आदि भी सहकारी कारण होते हैं। सबका मिलना ही कारण-सामग्री कही जाती है। उस कारण-सामग्री में प्रतिबन्धक के अभाव का भी निवेश है। अर्थात्, अन्य सब कारण मिल जाने पर भी जहाँ कार्य की उत्पत्ति रोकने वाला कोई प्रतिबन्धक आ पड़े, वहाँ कार्योत्पत्ति नहीं होती। बस, वृक्ष में जो कोई रोग लग गया, उसे कार्योत्पत्ति का प्रतिबन्धक मान लिया जायगा। उस प्रतिबन्धक का अभाव होने पर ही कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। इसलिए, जब तक वृक्ष में वह रोग रहेगा, तब तक फल-पुष्प आदि न होंगे। जब रोग हट जायगा, तब फल-पुष्प आदि उत्पन्न होने लगेंगे। इस प्रक्रिया से जब निर्वाह हो गया, तब अतिरिक्त शक्ति की कल्पना व्यर्थ है। फिर, शक्ति-पद किसका वाचक है? प्रत्येक पद का कोई वाच्यार्थ तो बताना ही होगा। इसका उत्तर उस शास्त्र में दिया जाता है कि कारण में जो स्वरूपयोग्यता, नाम की कारणता रहती है, उसे ही शक्ति-पद से कहा जाता है। इस प्रकार, वे शक्ति को कारणता-रूप या दूसरे शब्दों में जनकता-रूप कहते हैं। जनकता को कई ग्रन्थकारों ने अतिरिक्त पदार्थ मान लिया है। उनके मतानुसार तो मीमांसकों से केवल नाममात्र का विवाद रहा। मीमांसक जिसे शक्ति कहते थे, उसे इन्होंने जनकता कहकर मान लिया। पदार्थ तो माना ही, फिर यह नाम का झगड़ा तो कोई मूल्य नहीं रखता; किन्तु न्यायशास्त्र के बहुत-से ग्रन्थकार जनकता को भी अतिरिक्त नहीं मानते। किन्तु, जनकता का लक्षण कहते हैं 'नियतपूर्व वृत्तित्व', अर्थात् कार्योत्पत्ति के पूर्वक्षण में नियत (नियमित) रूप से कारण का रहना ही उसकी जनकता है। अब यहाँ नियत शब्द के अर्थ का विचार किया जायगा, तो उसका अर्थ वे करते हैं कि जहाँ-जहाँ कार्योत्पत्ति हो, वहाँ सर्वत्र पूर्वक्षण में कारण का अभाव नहीं रहना चाहिए। इस प्रकार तो शक्ति की अभावरूपता प्राप्त हो गई; क्योंकि अभाव का न रहना ही शक्ति का निर्वचन सिद्ध हुआ। न रहना भी रहने का अभाव ही है, इसलिए अन्ततः अभावरूपता ही शक्ति को प्राप्त हुई; किन्तु जो इस लक्षण का अर्थ इतना बढ़ाकर करते हैं कि जिस वस्तु का अभाव हो, वह वस्तु उस अभाव का प्रतियोगी रूप कही जाती है। उसमें उस वस्तु का असाधारण धर्म उस अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक मान लिया जाता है। अवच्छेदक कहते हैं समनियत धर्म को। अर्थात्, जितने प्रदेश में प्रतियोगिता रहे, उतने ही प्रदेश में रहने वाला। धर्म उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक होगा। इस सब प्रक्रिया के अनुसार पूर्वोक्त नियत शब्द का ऐसा अर्थ करेंगे कि कार्य की उत्पत्ति के पूर्वक्षण में रहने वाला जो अभाव, उसका प्रतियोगितावच्छेदक न होनेवाला जो धर्म, उस धर्म की आश्रयता ही नियतता है। तब अपने-अपने असाधारण धर्म की आश्रयता ही शक्तिरूप सिद्ध होगी। जैसे घट का कारण दण्ड है, वह घट की उत्पत्ति के पूर्वक्षण में सर्वत्र रहता है, इसलिए पूर्वक्षण में उसका अभाव नहीं होता और उसका असाधारण धर्म जो दण्डत्व है, वह पूर्वक्षणवृत्ति अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक कभी नहीं बनता। इस प्रक्रिया में भी यह दोष आता है कि अपने-आप अपना ही अवच्छेदक नहीं बनता, यह न्यायशास्त्र में माना गया है, किन्तु पूर्वोक्त प्रक्रिया में जनकता भी दण्डत्वादि रूप ही सिद्ध हुई और उस जनकता का अवच्छेदक भी दण्डत्व को ही मानना पड़ेगा, तो अपने-आप ही अपना अवच्छेदक हो गया, यह नियम-विरोध आ पड़ेगा। इसका समाधान यों कर लेते हैं कि दण्डत्व दो प्रकार से यहाँ गृहीत होता है : एक पूर्वक्षण में रहने वाले अभाव की प्रतियोगिता का। वह अवच्छेदक नहीं है, इस रूप

से तो वह जनकता रूप है और दण्ड का असाधारण धर्म है इस रूप से वह अवच्छेदक बन जाता है। यों, रूपभेद होने से भिन्न-भिन्न मानकर अवच्छेदकत्व का निर्वाह कर लिया जाता है। विषय अत्यन्त जटिल है, यह संस्कृत में ही कहा जा सकता है। हिन्दी-पाठकों के लिए यह रुचिकर भी न होगा, इसलिए इस विषय को अधिक नहीं बढ़ाते, केवल इतना ही लिख दिया है कि न्यायशास्त्र में किसी रूप से शक्ति की अभावरूपता प्राप्त होती है और किसी प्रकार फेर-बदल या विस्तार कर भावरूपता भी मानी जाय, तो भी उसका असाधारण रूप होने के कारण आश्रय से, अर्थात् शक्तिमान् से अभेद ही प्राप्त होता है और किसी प्रकार रूप भेद मानकर आश्रय से भिन्नता भी सिद्ध की जाती है। भेद और अभेद दोनों एक जगह नहीं बन सकते। इसलिए, यहाँ भी अनिर्वचनीयता में ही पर्यवसान हो जाता है।

सांख्यशास्त्र में कार्य की सूक्ष्मावस्था ही शक्ति-रूप कही जाती है। सांख्य-दर्शन सत्कार्यवाद मानता है, अर्थात् नया कार्य कोई उत्पन्न नहीं होता, अपने कारण में सूक्ष्मावस्था से कार्य पूर्व से ही स्थिर रहता है। कारण-व्यापारों से वही अपनी स्थूलावस्था में आ जाता है। जैसाकि तिल, दधि, प्रतिमा आदि में स्पष्ट अनुभव होता है। तिलों में तैल पूर्व से ही है, किन्तु सूक्ष्मावस्था में है। पेरने पर वही स्थूलावस्था में आ जाता है, अर्थात् प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार दधि में मक्खन पूर्व से ही व्याप्त है। बिलौने से वह स्थूल रूप में लाकर बाहर निकाल लिया जाता है। इसी प्रकार, जब वह किसी शिल्पकार को एक पत्थर ले जाकर देते हैं कि इसमें घोड़े की या हाथी की कोई मूर्त्ति बना दो, तब भी प्रत्यक्ष देखा जाता है कि वह शिल्पी बाहर से लाकर किसी वस्तु को उसमें नहीं मिलाता, अपितु उस प्रस्तर से ही अपने शस्त्रों से जगह-जगह से तोड़-ताड़ कर आपके इच्छानुसार प्रतिमा बना देता है। इससे स्पष्ट है कि वह प्रतिमा प्रस्तर में पहले से ही थी, उस पर एक आवरण था। उस आवरण को शिल्पी ने तोड़कर निकाल दिया, तो प्रतिमा प्रकट हो गई। इसी प्रकार, भिन्न-भिन्न वृक्ष भी अपने बीज में सूक्ष्म रूप से रहते हैं। वे ही जल-सेचन आदि के द्वारा प्रकट कर दिये जाते हैं। यही सांख्य का सत्कार्यवाद है। इस कार्य की सूक्ष्मावस्था को ही वहाँ शक्ति कहा जाता है। कारण में कार्य की सूक्ष्मावस्था जो पहले से ही रहती है, वही उस कारण की शक्ति है। इस दर्शन के अनुसार भी शक्ति का शक्तिमान् से भेदाभेद ही सिद्ध होता है। यदि शक्ति शक्तिमान् से अभिन्न होती तो पहले से ही जैसे कारण-रूप शक्तिमान् प्रकट था, वैसे ही वह शक्ति भी प्रकट रहती और यदि उससे भिन्न होती, तो उसके अतिरिक्त भी कहीं दिखाई देती, इसलिए भेद और अभेद दोनों ही मानने पड़ेंगे। दोनों एक जगह बन नहीं सकते, इसलिए यहाँ भी अनिवर्चनीयता में ही पर्यवसान मानना होगा।

बौद्धदर्शन आदि के मत में भी किसी अर्थ को या किसी क्रिया को उत्पन्न करने का सामर्थ्य ही शक्ति कहा जाता है। वह सामर्थ्य किसी एक क्षण में ही कारण-द्रव्य में हुआ करता है, जैसा कि आम्रवृक्ष में फल उत्पन्न करने का सामर्थ्य किसी एक क्षण में ही देखा जाता है। सब काल में उस वृक्ष से फलादि उत्पन्न नहीं होते। इसी आधार पर वे सब अर्थों को क्षणिक ही मानते हैं। यदि वृक्ष आदि पदार्थों को अन्य दर्शनों की रीति से स्थिर सिद्ध किया जाय, तो भी यह तो मानना ही होगा कि फलोत्पादन का सामर्थ्य उनमें किसी एक क्षण में ही होता है। वह सामर्थ्य ही शक्ति है, इसलिए उस शक्ति के भेदाभेद ही शक्तिमान् के साथ सिद्ध होंगे और

जैनदर्शन में तो सभी पदार्थों का भेदाभेद ही सिद्ध किया जाता है, यह 'स्याद्वाद' ही उस दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। इसलिए, शक्ति शक्तिमान् का भी वहाँ भेदाभेद ही माना जाता है।

अच्छा अब वेदान्त-दर्शन की प्रक्रिया पर विचार कीजिए। वेदान्त-दर्शन पर श्रीशङ्कराचार्य का भाष्य है और साम्प्रदायिक वैष्णव श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीभास्कराचार्य के भी भिन्न भाष्य हैं। सबने ही शक्ति पर विचार किया है। उनमें श्रीशङ्कराचार्य की प्रक्रिया तो आरम्भ से बताई ही गई है। श्रीरामानुजाचार्य प्रकृति और जीव को परब्रह्म नारायण का शरीर मानते हैं। प्रकृति और जीव प्रलयावस्था में सूक्ष्म रूप में रहते हैं, अर्थात् प्रकृति अपना कार्योत्पादन नहीं करती और जीव भी अपना कार्य सुख-दुःख भोग नहीं करते। सृष्टि-दशा में वे दोनों ही स्थूल रूप हो जाते हैं, अर्थात् अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं। वास्तविक विचार करने पर ये सूक्ष्म दशा के प्रकृति, जीव और स्थूल दशा के प्रकृति जीव एक ही हैं। इनमें सूक्ष्म दशा के प्रकृति और जीव को भगवान् की शक्ति कहा जायगा और स्थूल दशा की प्रकृति और जीव को कार्य। अथवा स्थूल, सूक्ष्म दोनों ही दशाओं के प्रकृति और जीव को शक्ति समझिए और उनसे उत्पन्न होने वाले महाभूतादि प्रपञ्च को संसार-रूप कार्य। इस शक्ति के भी भगवान् से भेदाभेद ही कहे जायेंगे। जैसे, हम अपने शरीर को आत्मा से सर्वथा भिन्न भी नहीं कह सकते; क्योंकि शरीर के चलना, खाना, पीना आदि कार्य होने पर मैं ही चलता हूँ, मैं ही खाता हूँ इत्यादि प्रतीति होती है। और, सर्वथा एक रूप भी नहीं कह सकते; क्योंकि शरीर और आत्मा एक ही हों, तो फिर आत्मा माना ही क्यों जाय? फिर तो शरीरात्मवाद पर ही विश्राम होगा। इस प्रकार, इस मत में भी भेदाभेद ही सिद्ध होंगे। श्रीवल्लभाचार्य ने परब्रह्म की सामर्थ्य-शक्ति तो परब्रह्म से अभिन्न ही मानी है और माया-प्रकृति आदि शक्तियों को परब्रह्म से उत्पन्न कहा है। इस प्रकार शक्ति-सामान्य रूप से एकत्र विवक्षा यदि की जाय, तो किसी का भेद और किसी का अभेद मानने से भेदाभेदवाद ही यहाँ भी सिद्ध होता है। वस्तुतः, परब्रह्म में जो सामर्थ्य-रूप शक्ति मानी गई है, वह भी केवल कार्यगम्य होने से अनिर्वचनीय ही कही जायगी।

श्रीनिम्बार्काचार्य तो भेदाभेदवादी प्रसिद्ध ही हैं। उनके मतानुसार परतत्त्वरूप विष्णु भगवान् में जो सौन्दर्य, माधुर्य आदि गुण और जगत्कर्तृत्व आदि शक्तियाँ हैं, वे सभी ही शक्ति-पद कहे जाते हैं और इनका परतत्त्व भगवान् विष्णु के साथ भेदाभेद ही माना जाता है। स्वरूप में अन्तर्गत होने के कारण अभेद है और भिन्न-भिन्न कार्य करने से भेद भी कहा जा सकता है। इस प्रकार इस मत में भी शक्ति का भेदाभेद ही निरूपित है। जीवों को भी ये परतत्त्व की शक्ति-रूप ही मानते हैं और उनका परतत्त्व से भेदाभेद ही कहते हैं।

श्रीमध्वाचार्य के मत में शक्ति चार प्रकार की मानी जाती है—(१) अचिन्त्य शक्ति, (२) आधेयशक्ति (३) सहजशक्ति और (४) पदशक्ति। परमात्मा में अचिन्त्यशक्ति पूर्णरूप से रहती है। जगत् के पदार्थों में, जो भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं, उन्हें सहजशक्ति कहा जाता है। प्रतिमा आदि में प्रतिष्ठा से जो शक्ति स्थापित की जाती है, वह आधेयशक्ति है और पद में अर्थबोधन कराने की शक्ति पद-शक्ति है। इस प्रकार, भगवान् की शक्ति को इन्होंने मुख से ही अचिन्त्य कहा है और लक्ष्मी, प्रकृति आदि की भिन्न रूप में गणना की है। उनके सब मत का प्रपञ्च लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं। केवल यही कहना है कि आदिभूत शक्ति को वे भी

भेदा-भेद रूप से अचिन्त्य ही कहते हैं। जीव, इनके मत में परमात्मा के प्रतिबिम्ब-रूप है और वे परमात्मा से अविनाभूत है। अविनाभूत का अर्थ नित्य सम्बद्ध ही कहा जा सकता है। इस प्रकार, द्वैतवादी होने पर भी एक प्रकार से इन्होंने अद्वैत ही मान लिया। इन्हीं का शाखा-रूप जो चैतन्य-सम्प्रदाय बङ्गदेश में प्रादुर्भूत हुआ, उन्होंने स्पष्ट ही अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्तवादी अपने सम्प्रदाय का नाम घोषित कर दिया। यों, परिभाषा भिन्न होने पर भी एक ही बात को भिन्न-भिन्न शब्दों में सब कह रहे हैं, यह स्फुट हो जाता है।

इस प्रकार, शक्ति-तत्त्व के विषय में सब दार्शनिकों का और सम्प्रदायाचार्यों का मत संक्षेप में यहाँ दिखाया गया। इसमें विशेष कर ध्यान देने की बात यह है कि मूलभूत उपनिषदों में शक्ति का ब्रह्म से जन्म या प्रकट होना वर्णित नहीं है। इस प्रकार की प्रक्रिया आचार्यों ने आगमशास्त्र या पुराणों से ही ली है। शुद्ध उपनिषद् का मत श्रीशङ्कराचार्य ने ही लिखा है और आचार्यों के सिद्धान्तों में विशेषकर श्रुति और आगम-शास्त्रों का सम्मिश्रण ही दिखाई देता है। पुराणों में भी जो कहीं-कहीं प्रकृति की परब्रह्म से उत्पत्ति कही गई है, वह भी आगमशास्त्र के आधार पर ही कही जा सकती है। आगमशास्त्र में तो शक्ति का बहुत बड़ा प्रपञ्च मिलता है। यहाँ शक्ति सामान्य रूप से एक शक्तिवाद, सृष्टि, स्थिति और पालन को भिन्न-भिन्न शक्तियाँ मानने से महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती-रूप त्रिशक्तिवाद और *ब्रह्मवैवर्त्त* के प्रकृतिखण्ड और *देवीभागवत* के एकादश स्कन्ध में दुर्गा, राधा, लक्ष्मी, सरस्वती और सावित्री इन पाँच शक्तियों का विवरण विस्तार रूप से प्राप्त होता है। इन सबका पूर्ण विवरण यहाँ सम्भव नहीं। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आगमशास्त्रों में और उनके आधार पर देवीभागवत आदि में शक्ति की उपासना तीन प्रकार से बताई गई है। एक परब्रह्म और शक्ति का अभेद मानकर परब्रह्म-रूप से ही शक्ति को उपास्य माना है। परब्रह्म में वस्तुत: कोई लिङ्ग नहीं है, उसे पुरुष-रूप पिता भी कह सकते हैं और स्त्री-रूप माता भी। **'पुंस्त्री भेदो न गण्यते'**—स्त्री और पुरुष का भेद यहाँ नहीं माना जाता। माता-रूप से और पिता-रूप से भी परब्रह्म की उपासना होती है। यह एक प्रकार हुआ। परब्रह्म की शक्ति मानकर उपासना करना दूसरा प्रकार है और उन शक्तियों के भिन्न-भिन्न रूप मानना और उन रूपों का परब्रह्म से ही साक्षात् सम्बन्ध मानना तीसरा प्रकार है। यह तीनों प्रकार की शक्ति की उपासना आगम और पुराणों में विस्तार से वर्णित है।

शक्ति की वैज्ञानिक व्याख्या

पूर्व कथन का सारांश यह हुआ कि सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण अखण्ड और एक है। प्रश्न यह है कि वह अखण्ड और निरवयव एक तत्त्व दृश्य जगत् के रूप में परिणत कैसे हो गया। कोई दूसरी वस्तु अवश्य होनी चाहिए, जिसके माध्यम से वह मूल तत्त्व परस्पर अनन्त भेदवाले संसार के रूप में परिणत होता है। इसी समस्या के समाधान के हेतु शास्त्रों में उस मूल तत्त्व की शक्ति को स्वीकार किया गया है, जिसकी सहायता से संसारचक्र चल पड़ता है। वेदों में इस शक्ति का मौलिक रहस्य है। उसी आधार पर पुराणों में इसका विस्तार है। आगे के दर्शनों में इस शक्ति का विवेचन भिन्न-भिन्न पारिभाषिक शब्दावलियों में हुआ है, जिसका विवरण हम ऊपर कर चुके हैं। आगे हम शक्ति के विषय में जो विचार उपस्थित करते हैं, उसे वैज्ञानिक

प्रक्रिया के अनुसार शक्ति की व्याख्या कहा जा सकता है। सभी शास्त्रों में विवेचना-पद्धति और शब्दावली-मात्र का भेद होते हुए भी तात्त्विक निरूपण में कोई विरोध नहीं, यह समन्वय की एक प्रक्रिया है और इसीलिए हम इसे वैज्ञानिक प्रक्रिया की व्याख्या कह रहे हैं। बल, शक्ति और क्रिया—ये एक ही अर्थ की विभिन्न अवस्थाओं के वाचक शब्द हैं। जब क्रियाशून्य, अपने आश्रय से अभिन्न, प्रसुप्त के समान वह अर्थ रहता है, तब उस अवस्था में इसे 'बल' कहते हैं। जब वह अर्थ जागरित होकर अपने कार्य में प्रवृत्त होने को उद्यत होता है, तब उसे 'शक्ति' कहते हैं। इसके आगे जब वह कार्यरूप में परिणत होता है, तब उसे 'क्रिया' कह देते हैं। एक आधुनिक दृष्टान्त लीजिए—आजकल बिजली का सर्वत्र उपयोग होता है। बिजली में प्रकाश फैला देने की क्षमता है। वह क्षमता जब तक बिजली से अभिन्न होकर रहेगी, तब तक वह उसकी प्रसुप्त अवस्था होगी। वही बल कहा जायगा। जब वह तार (Wire) के रूप में फैलाया जाता है, तब उसे शक्ति कहते हैं और जब बल्ब में आकर वह प्रकाश-रूप में परिणत हो गया, तब उसे ही प्रकाश-रूप क्रिया कहा जाता है। इसी उदाहरण से सर्वजगत्-कारणभूत ब्रह्म में भी जब उसका सामर्थ्य प्रसुप्त अवस्था में रहता है, तब वह बल कहलाता है, कुर्वद्रूपता में शक्ति और परिणत अवस्था में क्रिया कहलाता है। शक्ति ही अपने संसर्ग से जब कोई प्रभाव उत्पन्न करती है, तब उसे क्रिया कहते हैं।

हमारी दृष्टि में क्रिया ही आती है। शक्ति को हम उस क्रिया का साक्षात् और बल को उस क्रिया का परम्परा से कारण मानते हैं। शक्ति और बल का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं, अपितु अनुमान-प्रमाण से होता है। यहाँ यह जानना भी रोचक होगा कि व्याकरण के महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने क्रिया का विवरण देते हुए कहा है कि 'यह क्रिया अत्यन्त परोक्ष है। इसको कभी इकट्ठा करके नहीं दिखाया जा सकता।' इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि वह प्रत्यक्ष से नहीं जानी जा सकती। कारण यह है कि वह उत्पन्न होकर एक क्षण-मात्र रह सकती है, दूसरे ही क्षण समाप्त हो जाती है। इसकी सूक्ष्म वस्तु को हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। प्रत्यक्ष दर्शन उसी का सम्भव है, जो उत्पन्न होकर नेत्रों का विषय बन सके। इसके लिए अनेक क्षण तक उसकी स्थिति होनी चाहिए। परन्तु, क्रिया उत्पन्न होते ही ध्वंस का विषय बन जाती है। इसलिए, नेत्रों से उसका सम्बन्ध ही स्थापित नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष तो दूर की बात है। हमने अपने हाथ को घुटनों से उठाकर कमर पर रख लिया। इस छोटी-सी बात में घुटनों से कमर तक के आकाश के प्रदेशों के साथ हाथ के जो संयोग और विभग हुए, उनकी गिनती करना कठिन है। ये संयोग और विभाग ही तो क्रिया के रूप हैं। इतनी सूक्ष्म क्रिया को प्रत्यक्ष कैसे देखा जा सकता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उन क्रियाओं की समष्टि का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है; क्योंकि वह क्षण-मात्र स्थित होकर नष्ट हो जाती है, समुदाय बनना उसका सम्भव नहीं। जो क्रिया उत्पन्न होने के साथ ही विनष्ट हो जाती है, उसका समुदाय कैसे बनेगा। एक सूई से कमल के सौ पत्तों के भेदन में जो क्रिया की क्रमिकता है, उसका भी प्रत्यक्ष ज्ञान असम्भव है, इसलिए महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि का आशय यही है कि क्रिया का भी हम लोग संयोग और विभाग से अनुमान ही कर सकते हैं, उसे प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। भाष्यकार का उक्त कथन सर्वथा समीचीन है कि क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु उनका वह कथन क्रिया की सूक्ष्मतम इकाई के लिए है, जब अनेक क्रियाओं की एक क्रमिक

धारा बन जाती है, तब उसे हम प्रत्यक्ष भी देखते हैं। इसी आधार पर, 'अमुक व्यक्ति चल रहा है, आ रहा है, जा रहा है' इत्यादि क्रियाओं के व्यवहार होते हैं।

न्यायशास्त्र में इसी अनुपपत्ति को हटाने के लिए क्रिया का 'चतुःक्षणस्थायी' (चार क्षण रहने वाली) कहा जाता है। एक क्षण में वह उत्पन्न हुई। दूसरे क्षण में स्थिर रही। उसी क्षण में उसने अपने आश्रय का पूर्वप्रदेश से विभाग कराया। तीसरे क्षण में पूर्वदेश के साथ जो आश्रय का संयोग था, उसका नाश हुआ। चौथे क्षण में आगे के प्रदेश के साथ संयोग हुआ। बस संयोग कराकर वह क्रिया नष्ट हो गई। आगे दूसरा क्रिया प्रवृत्त होगी। इस मत में भी क्रिया के द्वारा उत्पन्न संयोग-विभागों का हमें प्रत्यक्ष होता है, यह सिद्ध हुआ। अतिसूक्ष्म क्रिया तो प्रत्यक्ष से नहीं जानी जाती। इस प्रकार, एक-एक क्रिया का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता, किन्तु वह कुर्वद्-रूपा शक्ति जब क्रम से क्रियाओं को उत्पन्न करती हुई उसे धारावाहिक बना देती है, तब हम उसे प्रत्यक्ष कह दिया करते हैं। वास्तव में तो न्यायशास्त्र की उक्त प्रक्रिया भी प्रथमाधिकारियों को समझाने के लिए ही है। क्रिया तो एक क्षण-मात्र में ही नष्ट हो जाती है। यों उसकी धारावाहिकता भी बनना असम्भव ही है, किन्तु आश्रय से सम्बन्ध करने पर वह धारावाहिक हो सकती है, जैसाकि प्रत्यक्ष दिखाई देता है। सृष्टि के आरम्भ में जब हम रस और बल वा ब्रह्म और उसकी शक्ति का वर्णन करने लगे हैं, वहाँ भी रस वा ब्रह्म का आधार पाकर वह बल वा शक्ति धारावाहिक बन सकती है। यों, धारावाहिक होने पर वह भी प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय बनने योग्य हो जाती है। संयोग और विभाग भी क्रिया के ही रूप हैं, यह बात आगे स्पष्ट हो जायेगी। अतः, प्रत्यक्ष-ज्ञानगोचर होने वाली क्रिया से उसकी पूर्वावस्था, शक्ति और बल का अनुमान हो जाता है। ईंधन को भस्म होता हुआ प्रत्यक्ष देखते हैं, वह क्रिया है। उससे अग्नि की दाहक शक्ति का अनुमान होता है। वह शक्ति भस्म करने के पहले भी अग्नि में थी, नहीं तो अकस्मात् कहाँ से आविर्भूत हो गई। अतः, आविर्भूत होने के पूर्व की अवस्था जो बल कहलाती है, उसका भी वह शक्ति अनुमान करा देती है। वह बल उस शक्ति की प्रसुप्तावस्था है। यद्यपि कोशों में शक्ति और बल को समानार्थक ही माना जाता है, परन्तु वे पृथक्-पृथक् अवस्थाएँ हैं, यह बतलाने के लिए यहाँ उसी रूप में उनका वर्णन किया गया है।

हमने ऊपर की पङ्क्तियों में यह देखा कि क्रिया क्षणिक है, वह शक्ति से उत्पन्न होती है। एक शक्ति एक क्षण में एक क्रिया उत्पन्न करती है। दूसरी शक्ति दूसरे क्षण में दूसरी क्रिया उत्पन्न करती है। इससे हमने जहाँ शक्ति का अनुमान किया, वहाँ शक्ति की क्षणिकता का भी अनुमान हो जाता है और वह शक्ति जब प्रसुप्तावस्था में रहती है, तब भी उसका क्षणिकता से छुटकारा नहीं होता। अतः, उसकी प्रसुप्तावस्था, जिसे हम बल कहते हैं, उसकी भी क्षणिकता ही सिद्ध हो जाती है। जब बल, शक्ति और क्रिया में केवल अवस्थाभेद-मात्र है, कोई तात्त्विक अन्तर नहीं, तब इन तीनों की क्षणिकता को सिद्ध करने के लिए किसी पृथक् तर्क या युक्ति की अपेक्षा नहीं रह जाती। उनमें जो स्थिरता का अनुभव और अनुमान होता है, वह धारावाहिक रूप को मानकर ही होता है। क्रिया जैसे क्षण-मात्र अवस्थित रह सकती है, उसी प्रकार वह जगह भी बहुत कम घेरती है। अङ्गुली या पैरों के परिचालन में जितने आकाश के प्रदेशों का संयोग-विभाग होगा, उन प्रदेशों की गणना करना भी कठिन है। क्रिया और शक्ति के समान ही उनके कारणभूत बल में भी बहुत

सूक्ष्म प्रदेश में स्थिति माननी होगी। अनादि, अनन्त और व्यापक तत्त्व में रहने वाली शक्ति भी अनादि, अनन्त और व्यापक ही होनी चाहिए। वह क्षणिक कैसे है, यह प्रश्न सामने आता है। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म की अनन्तता आदि हैं, परन्तु वे उसके स्वरूप में अनुप्रविष्ट नहीं, अपितु अनन्त संख्या बलों के रहने से वहाँ अनादिता, अनन्तता आदि रह सकती है। यही बात नित्यता के विषय में भी है। ब्रह्म की सत्ता भूत, भविष्यत् और वर्तमान में एक रूप से रहती है, इसलिए शास्त्रीय भाष में उसे कूटस्थ नित्य कहा जाता है। बल की भी सत्ता तो रहती है, परन्तु एक रूप से नहीं रहती, कोई-न-कोई, बल, शक्ति या क्रिया सर्वदा रहती है परन्तु वह बल, शक्ति या क्रिया अब नहीं है जो पूर्वक्षण में थी, अतः इसे प्रवाहनित्य कहा जाता है। जब एक-एक व्यक्ति के रूप में बल को देखा जायगा, तब वह परिमित तथा उत्पन्न और विनष्ट होनेवाला ही प्रतीत होगा। इसीलिए, शास्त्रों में शक्ति के साथ बहुवचन रखा जाता है। जब उन सभी शक्तियों अथवा बलों को जाति रूप से सम्बोधित करने की विवक्षा होती है, तब एकवचन भी कहा जाता है। शक्ति में अनेकता है, इसीलिए उस शक्ति के सृष्टि, संहार, ग्रीष्म, शीत आदि अनन्त कार्य देखने में आते हैं, यदि शक्ति को एक रूप ही माना जाय, तो जगत् की विचित्रता और अनन्तरूपता निराधार हो जायगी; क्योंकि सारा जगत् शक्ति का ही तो कार्य है, साथ ही ब्रह्म की शक्ति यदि ब्रह्म के ही समान व्यापक और अपरिवर्तनशील हो, तब तो ऐसी शक्ति निष्प्रयोजन ही रहेगी। क्योंकि, शक्ति मानने पर भी परिच्छिन्न और भिन्न प्रकार का जगत् कैसे बना, यह प्रश्न बना ही रहेगा। इसलिए, मूलतत्त्व की शक्ति को प्रवाहरूपा ही मानना उचित होता है, और इस प्रकार सृष्टि की प्रारम्भिक मस्तिष्क की उलझन कुछ किनारे लगती दिखाई देती है।

यह सम्पूर्ण दृश्यमान् जगत् शक्ति का ही परिणाम या विकास है। वह शक्ति क्रिया के रूप में पहुँचकर ही सर्वसंवेद्य बनती है, अतः इस विश्व को क्रियारूप भी कहा जाता है। हमने ऊपर कहा है कि यद्यपि यह क्रिया भी परम सूक्ष्म है, तथापि संवेद्य नहीं होती; परन्तु जैसे समय के आधार पर इसे प्रवाहनित्य कहते हैं, वैसे ही अनेक शक्तियाँ स्थान को भी घेरती हैं, अतः स्थान के आधार पर इनमें छोटाई, बड़ाई आदि तथा अंश, अंशी आदि का भी व्यवहार होता है और धारावाहिक रूप में चलती हुई एक क्रिया पर जब दूसरी क्रियाएँ भी आ जाती हैं, तब वह बलों की, शक्तियों का वा क्रियाओं की 'चिति' कहलाती है। चिति नाम है चिनने का। जैसे—चिनाई में एक ईंट पर दूसरी ईंट, उस पर तीसरी, यह क्रम रहता है।

इसी विचार पर केन्द्रित होकर क्रिया को ही जगत् के मूल तत्त्व के रूप में पहचाननेवाले श्रमणों ने क्रिया की क्षणिकता के अधार पर संसार को भी क्षणिक माना। श्रम क्रिया का ही दूसरा नाम है, शारीरिक क्रिया की परिणति को ही लोक में श्रम कहा जाता है। उसी की व्यापक अवस्था और जगत् का उससे अद्वैत भाव स्वीकार करने वालों की श्रमण यह अन्वर्थ संज्ञा है। ये श्रमण बौद्ध कहे जाते हैं। वैदिक विचारधारा यह है कि वह क्रिया किसी के आधार पर ही स्थित रह सकती है, निराधार क्रिया वा शक्ति कहीं नहीं देखी जाती। वह आधार ही प्रधान होता है, उसे ब्रह्म कहते हैं, शक्ति या क्रिया उसी ब्रह्म के आधार पर ही रहती है, अतः यह जगत् ब्रह्म से अद्वय-भाव को प्राप्त है, इस ब्रह्माद्वय-सिद्धान्त को मानने वाले ब्राह्मण कहलाये।

उपर्युक्त बल अपने आश्रय के साथ एकरूप होकर प्रसुप्त अवस्था में रहता है। उस समय अपने रूप में ही उसकी परिणति होती रहती है। यह परिणति इसलिए होती है कि परिणति ही जिसका स्वभाव है, वह क्षणमात्र के लिए भी अपरिणत होकर कैसे रह सकता है। ब्रह्म में नित्य प्रसुप्त रूप में अवस्थित वह बल, जब स्वभाव से, परब्रह्म की स्वातन्त्र्य-शक्ति से अथवा परब्रह्म के स्वरूप में प्रलीन प्राणिकर्मों के संस्कारों से, जब सृष्टि के आरम्भ में जागरित होता है, तब वह शक्ति आदि के क्रमिक रूपों में प्रादुर्भूत होता है और शक्ति स्वयं परिच्छिन्न है, इसलिए अपने आश्रयभूत परब्रह्म को भी परिच्छिन्न करके प्रकाशित करती है। कहा जा चुका है कि समुद्र के अथाह जल को अनन्त तरङ्गमालाएँ अनन्त रूपों में वेष्टित कर प्रकट करती हैं। इससे जल में बहुत भेद प्रकट हो जाते हैं। किसी विशाल नगर की गगनचुम्बिनी प्रासाद-पंक्तियाँ अपने घेरे में आनेवाले आकाश-प्रदेशों को अनन्त आकाश से अलग-सा प्रकट कर देती हैं। यही बात ब्रह्म और बल या शक्ति के लिए भी समझ लेनी चाहिए। इसी बल या शक्ति को माया कहा जाता है; क्योंकि यह अपरिमित में मिति (परिमिति) कर देती है। माया शब्द 'मा' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है मितीकरण। अपरिच्छिन्न में नाम और रूप का व्यवहार नहीं होता, वह तभी होता है, जब परिच्छेद या लिमिट (Limit) हो जाय। परिच्छेद माया से ही होता है, इसीलिए श्रीशङ्कराचार्य ने माया को नाम और रूप की सूक्ष्मावस्था कहा है। वह माया परिच्छेद का प्रदर्शन करने वाली बलरूपिणी ही है। इसीलिए, पहले यह कहा गया है कि नाम और रूप अविद्या अथवा माया की कल्पना है। वेदान्त-दर्शन के ज्ञाताओं से यह बात अपरिचित नहीं कि अविद्या माया की ही एक वृत्ति का नाम है। आचार्य शङ्कर ने भी ब्रह्म-सूत्र के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद के आरम्भ के 'अनुमानिकमप्येकेषाम्' सूत्र के भाष्य में माया और अविद्या का एकत्व स्वीकार किया है। इसलिए, यह सिद्ध हुआ कि नाम और रूप कोई अभिनव वस्तु नहीं है, अपितु परब्रह्म की परिच्छेदिका माया के द्वारा ही ये उत्पन्न किये गये हैं। ये नाम और रूप ही आगे के परिच्छेदों के जनक हैं, इसलिए इन्हें भी माया कहा जाता है। लोक-व्यवहार में माया का अवबोध नाम और रूप से ही होता है। माया की सूक्ष्म अवस्था लौकिक पुरुषों की बुद्धि में नहीं आ सकती, यही भगवान् शङ्कराचार्य का तात्पर्य है। अज्ञान की वासना, जो कि जीव के साथ अनादिकाल से है, उसी को अविद्या भी कहते हैं—उस वासना की आश्रयभूत माया को ही मानना पड़ता है; क्योंकि वासनाएँ निराश्रय नहीं रह सकतीं और ब्रह्म उनका आश्रय नहीं बन सकता। वासनाओं का आश्रय ब्रह्म को मानने पर ब्रह्म भिन्न-भिन्न हो जायेंगे। इसलिए, अविद्या की आश्रयभूत माया को मानना पड़ेगा। तात्त्विक विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि अविद्या बल से अलग नहीं है, या बल को ही शास्त्रों में अविद्या कहा गया है। वह बल उक्त स्वरूप और धारावाहिक रीतियों से परिच्छिन्न भी है, अपरिच्छिन्न भी; नित्य भी है, अनित्य भी। इस प्रकार के विरुद्ध धर्म उसमें हैं और ज्ञान तथा विद्या-रूप आत्मतत्त्व का आवरक है। वेदान्त-दर्शन के ग्रन्थों में अविद्या को भावरूप (Possitive) या सत्तारूप सिद्ध किया गया है। अविद्या की सद्रूपता तभी बन सकती है, जब वह माया अथवा बल से पृथक् न हो। इसका नाम प्रकृति भी है; क्योंकि यह प्रकृष्ट रूप से कार्यों को उत्पन्न करती है। 'प्रकृति' शब्द की शाब्दिक मीमांसा होगी प्रकृष्टा कृतिः, तात्पर्य इसका क्रिया में ही होता है। क्योंकि,

शब्दशास्त्र की रीति से क्रिया और कृति—इन शब्दों में कोई भेद नहीं है। दूसरी व्युत्पत्ति है—'क्रियते अनया इति कृति:'। यहाँ प्रत्यय कारण अर्थ में किया गया है। इससे भी प्रकृति क्रिया की पूर्वावस्था ही सिद्ध होती है और वह शक्ति से अभिन्न है।

प्रधाना सृष्टिकरणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते।
मध्यमे रजसि कृश्च ति शब्दस्तमसि स्मृत:।।

इत्यादि *ब्रह्मवैवर्त्त* पुराण के प्रकृतिखण्ड के वचन भी सर्जन-क्रिया की पूर्वावस्था में ही प्रकृति शब्द को संकेतित करते हैं।

सन्दर्भ

१. निगुर्णस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मन:।
कथं सर्गादिकर्त्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते।।

२. शक्तय: सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचर:।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या: भावशक्तय:।।
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता।।

३. अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्य: परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।।

'पुराण-परिशीलन' से साभार।

आगमविद्याया अनादिपरम्परा राजस्थानं च

देवर्षिकलानाथशास्त्री

भारतीयविद्यानिधौ वेदानां शास्त्राणां च याऽनादिपरम्परा प्रवहति तस्या यशः संप्रति विश्वजनीनं सञ्जातमस्ति यतो हि *ऋग्वेदो* मानवपुस्तकालयस्य सर्वप्रथमपुस्तकमिति यूनेस्को संस्थया घोषितम्। वेदानामियं परम्परा निगमपरम्पराऽस्ति या खल्वनादिपरम्परा वर्तते।तथैवागमपरम्पराऽप्यस्ति। अस्माकं सेव्या सेयं सुरवाणी यस्य सुविशालस्य ज्ञाननिधेराकरभूताऽस्ति तस्य परिमापनं सुतरां दुश्शकमेव। भाष्यकारेण भगवता पतञ्जलिना तु शताब्दीभ्यः प्राक् केवलं सङ्केतमात्रमत्र विहितमासीत्—

"महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः। एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाऽऽथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येवाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः।" संस्कृतभाषाबद्धानामासां विद्यानां परिगणने तदिदं समुद्रे बिन्दुमात्रमेवाऽऽसीत्। ऊनविंश्याः शताब्द्या अन्ते समुद्भूतैर्विद्यावाचस्पतिवेदमीमांसामार्तण्डमधुसूदनझामहाभागैरेकस्मिन् स्वकीये ग्रन्थे 'विद्याप्रसङ्ग' इत्युपशीर्षकं बिभ्राणेऽध्याये भारतीयविद्यानां यो राशिः परिगणितः स हि सुमहान् पर्वतोपम एवाऽभूत्।

भारतवर्षगुरुत्वं पुरायुते विश्वविख्यातम्,
आसीत् ,तत्र च हेतुर्विद्यैवाऽऽसीद् विशेषेण।।१।।

प्राकृतविद्या, लौकिकविज्ञानं पार्थिवार्थविषयं यत्।
दिव्या विद्या ,वैदिकविज्ञानं सूर्यरसविषयम्।।२।।

तत्र प्राकृतविद्या निगमागमभेदतो द्विविधा।
इत्थं त्रिविधा विद्या भारतवर्षस्य गौरवे हेतुः।।३।।

इति पूर्वरङ्गं विधाय 'दिव्या विद्या' तैर्वर्णिता। सा चतुःषष्टिभेदतो भिन्ना। तत्र नैगमविद्याः अष्टादश, आगमविद्याः विंशतिः। नैगमविद्या वेदोपवेदवेदाङ्गादीनां या विद्यते सा विद्वद्वर्गे सुप्रथिताऽस्त्येव। 'निगमागम'गेयो भगवान् येन हेतुना प्रोच्यते सा आगमविद्याऽपि निगमविद्यावदेव गरिमाणं बिभर्ति किन्तु साऽल्पज्ञाता सञ्जाता यतो हि आगमाङ्गानां तन्त्रादीनां 'गोपनीयता' वाञ्छनीयाऽभूत् कारणवशात्। आगमविद्याया अस्याः कश्चनस्वरूपपरिचयो मधुसूदनमहाभागैरित्थं कारितः—

आगमविद्या षोढा, सिद्धान्तः, संहिता कल्पः।
यामल–डामर–तन्त्राण्येषां भेदास्तु बहवः स्युः।

षट् कल्पाः, सिद्धान्ताश्चतुर्दशाष्टादशेह संहितिकाः।
तन्त्राणि चतुःषष्टिर्यामलदशकं च डामरा अष्टौ।
मणिमन्त्रौषधिभेदात् त्रिविधा विद्याः, सहस्रशस्तन्त्रे।
ताभिः किं न हि सिध्येत्? कः स्पर्धेतेह तद्विद्भ्यः?।

तदिदमुक्त्वा तैरागमविद्यानां यः संक्षिप्तः परिचयः कारितस्तमवलोक्य तन्त्रशास्त्राख्यस्यास्य ज्ञाननिधेर्विशालताऽनुमातुं शक्यते। तैः पाञ्चरात्राख्यतन्त्राणां विशदीकरणं न कृतम्। तदपि यदि क्रियेत तर्हि तन्त्रशास्त्रीयस्य ज्ञाननिधेरपरिमेयता प्रकटीभवति। सर्वोऽप्ययं ज्ञानराशिः संस्कृते निबद्धः। किन्तु कति संस्कृतसुधियोऽस्य पूर्णं परिचयं बिभ्रति? किं कस्मिन्नपि विश्वविद्यालये, संस्कृतविद्यापीठेऽन्यत्र वाऽऽगमाख्यस्यास्य तन्त्रशास्त्रस्याध्ययनाऽध्यापनादि किञ्चन परिदृश्यते? निगमशाखानां तु सर्वमाध्ययनाध्यापनादिकं सञ्जायत एव किन्त्वस्य तन्त्रशास्त्रस्य कश्चनाऽप्यंशः कुत्रापि प्राच्यपाठ्यक्रमे निर्धारितोऽस्ति किम्?

इमां जिज्ञासामादाय यदा मयां कश्चनाऽनुयोगः कृतस्तदेदं स्फुटीभूतं यद् विद्याया अस्या गोपनीयत्वात् कुत्राऽपि प्रकटतया अस्य अध्ययनाध्यापनादि न सञ्जायते। यदि सञ्जायेताऽस्या अध्ययनस्योपक्रमोऽपि तदा क एनां पाठयिष्यति? न सन्ति विद्याया अस्या विज्ञातारः। काशीस्था विद्यामार्तण्डा गोपीनाथकविराजा विद्याया अस्या विपश्चितोऽभूवन्। यदा ते ध्रियन्तेस्म तदा कश्चनोपक्रमस्तन्त्रशास्त्रपठनपाठनादेश्चिकीर्षितोऽभूत् सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयनाम्नाऽद्यत्वे प्रसिद्धेन वाराणसेयविश्वविद्यालयेन, इत्यपि सूचनाऽभूत्। किन्तु का स्थितिरद्यत्वे तत्र तन्त्रशास्त्रपरिशीलनस्येति न ज्ञायते।

एतस्योल्लेखस्याशयोऽयमेव यद्भारतीयविद्याया एका सुमहती शाखा यद्यद्यत्वे विलुप्तप्राया, मध्यकाले तस्या गोपनीयताया वाञ्छितत्वात्, तर्हि किं सा विलोपान्धकारे निपात्यास्याभिरपि विनाश्येत? किमिदमस्माकं कर्तव्यपरिधौ नाऽऽयाति यदस्या विद्यायाः परिशीलनं, पुनरुद्धारः, पठनपाठनादि, शोधानुसन्धानादि, व्याख्यानविवेचनादि कुत्रचन सम्पाद्येत? विशेषतोऽस्माकं भारते प्रचलत्सु प्रायः पञ्चदशसंख्याकेषु संस्कृतविश्वविद्यालयेषु? काश्याः सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये कदाचन तादृश उपक्रमोऽभूत्। संप्रति जयपुरस्थजगद्गुरुराजस्थानसंस्कृतविश्वविद्यालये मन्त्रप्रतिष्ठानप्रभृतिसारस्वतोपक्रमाणां शुभारम्भस्य वृत्तानि यदा श्रूयन्ते तदा सेयं प्रत्याशा स्वभावतो जागर्ति यदेवं विधैरुपक्रमैरल्पज्ञातानामेवं विधानां विद्याशाखानां पुनरुद्धारस्य, पुनरनुशीलनस्य च कश्चन प्रक्रमः प्रवर्तिष्यते।

इदमप्यस्मिन् प्रसङ्गे समुल्लेखनीयतां बिभर्ति यद्राजस्थाने तन्त्रशास्त्रस्य साधनायाः, आगमशाखानामाधिविद्यग्रन्थलेखनपरम्परायाश्च तादृशः प्रोज्ज्वल इतिहासो जागर्ति यो देशे तन्त्रस्यानुशीलनयज्ञे सर्वतोऽग्रगण्या-माहुतिं प्रस्तोतुं क्षमेत। मया शोधलेख एकस्मिन्नन्यत्र (राजस्थानविश्वविद्यालयस्य दर्शनविभागीयोच्चतराध्ययन-केन्द्रेणाऽऽयोजितायां राष्ट्रीयतन्त्रविद्याशोधसंगोष्ठ्यां तदनन्तरं श्रीविद्यायै समर्पितायामस्यामेव पत्रिकायामेकस्मिन् लेखे विवेचितामासीद्यद्राजस्थानस्य तन्त्रज्ञविदुषामेका बृहत्त्रयी भारतविश्रुतानां तन्त्रशास्त्रीय-ग्रन्थानां विपुलं भाण्डागारं प्रस्तुतवतीत्यस्माकं गौरवम्। आचार्यत्रय्यामस्यामग्रगण्याः सन्ति सप्तदश्यां शताब्द्यां समुत्पन्नाः शिवानन्दगोस्वामिनो ये बीकानेरनरेशस्य, जयपुरनरेशस्य, मध्यभारतीयानां नरेशानां च राजगुरुत्वेन विख्याता अभूवन् '*सिंहसिद्धान्तसिन्धु*' प्रभृतीनां विश्वकोषीयप्रकृतिकाणां पञ्चत्रिंशधिकग्रन्थानां प्रणेतारश्चाभूवन्। एतल्लिखिता अनेके विशालास्तन्त्र-शास्त्रस्याऽऽकरग्रन्था राजस्थानप्राच्यविद्याप्रतिष्ठाने (जोधपुरस्थेन) प्रकाशिताः सन्ति।

एवंविधा अपरे मनीषिणोऽभूवन् पं. सरयूप्रसादद्विवेदा येषां परिवारे तन्त्रशास्त्रस्य, ज्योतिषशास्त्रस्यान्येषां च शास्त्राणां वैदुष्यं शताब्दीभ्योऽक्षुण्णमभूत्। एतेषां वंशे म.म. दुर्गाप्रसादद्विवेदा अपि जनिमलभन्त, राष्ट्रपतिसम्मानिताः पं. गङ्गाधरद्विवेदा अपि।

सरयूप्रसादप्रणीतमागमरहस्यम् (भागद्वये) जोधपुर-प्राच्यविद्याप्रतिष्ठानेन प्रकाशितमाकरग्रन्थरूपं पुस्तकमस्ति। एतेषां परिवारो जयपुरराज्यसम्मानितः सन् जयपुरे निवासमकरोत्। एवंविधा एव तन्त्रसाधका विद्वांसः कवयो लेखकाश्चाऽसन्नाचार्यमृतवाग्भवेत्याख्यया प्रसिद्धा मनीषिणो ये महाराष्ट्रीया अभूवन्, स्वातन्त्र्ययुद्धे सेनानीत्वमावहन्, प्रमुखतः सोलन (शिमला) नगरे स्वकीयां तन्त्रसाधनासंस्थामतिष्ठिपन् किन्तु भरतपुरेऽप्यागत्यावसन्निति राजस्थानीया एव मन्यन्ते। '*राष्ट्रालोक* प्रभृतिग्रन्थानां प्रणेतृभिरेतैरनेके तन्त्रग्रन्था अप्यलेखिषत, शाक्ततन्त्रीयदेवीस्तुतीनां व्याख्याग्रन्थादयोऽपि। जयपुरीयाः कविशेखरीभूताः श्रीहरिशास्त्रिणोऽपि तन्त्रमनीषिणोऽभूवन्।

स्थालीपुलाकन्यायेन तदिदं निदर्शनमस्ति राजस्थाने तन्त्रशास्त्रीयग्रन्थप्रणयनपरम्परायाः। परम्पराया अस्या गोपनीयत्वख्यातिरेव कारणं यत्तन्त्रशास्त्रस्याध्ययनाध्यापनादि देशे कुत्रापि न प्रवर्ततेऽद्यत्वे प्रतिष्ठानरूपेण। कुत्रचन श्रीविद्याया उपासनाक्रमो गुरुभिः शिष्येभ्य उपदिष्टो भवेत् कुतश्चन कश्चन श्रीविद्यावारिवस्याप्रदर्शको ग्रन्थो वा प्रकाशितो भवेदित्यासीदस्माकमभिलाषः। विद्याया अस्याः केन्द्रीभूतं किञ्चन प्रतिष्ठानं वाराणस्यां प्रतिष्ठापितमस्ति यस्याः प्रतिष्ठापकाः श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथगुरवो मूलतो राजस्थानस्य भुवि लब्धजन्मानः साधका अभूवन्। तेषामासीदयमभिप्रायो यद् गोपनीयताप्रतिष्ठायाः कारणाच्छनैः शनैस्तन्त्रविद्या विलीयेतेति-शङ्का जागर्ति अत एतादृशाः प्रयत्ना विधेया येन तन्त्रोपासना नवीनेषु शिष्येषु प्रसरेत्, तेभ्यो दीक्षा, प्रशिक्षणादिकं च देयम्। वाराणस्यां तु तादृशी परम्परा शनैःशनैरद्यापि प्रचलति किन्त्वन्यत्र विरलायते। प्राग्ज्योतिषे, शक्तिपीठेषु मन्दिरेषु, मध्यप्रदेशस्थे वल्गामुखी (बगलामुखी) पीठे, एवंविधेषु विरलेषु केन्द्रेषु तन्त्रस्य लघीयसी उपस्थितिरवश्यं द्रष्टुं शक्यते किन्तु न सा पर्याप्ता कथयितुं शक्यते। राजस्थाने तन्त्रशास्त्रस्य साधना, ज्ञानं, स्वाध्यायप्रवचनादि च नाद्य द्रष्टुं शक्यन्ते। राजस्थानसंस्कृतविश्वविद्यालये मन्त्रपीठस्य स्थापना एतादृशमेवोद्देश्यमादाय चिकीर्षिताऽभूत् किन्तु गच्छता कालेन तस्य स्वरूपमपि वेदमन्त्रपीठरूपेण परिवर्तितं स्यादिति कतिपयैः कुशलमतिभिः प्रयतितम्। अद्यापि तस्य भविष्यदनिश्चितमेवाऽस्ति। भगवतीश्रीविद्यां प्रार्थयामो यन्मन्त्रपीठस्यास्य निर्विघ्नं स्थापनां कारयेत्सा, तत्र चाऽऽगमविद्यायाः स्वाध्यायप्रवचनसाधनादिकं प्रसरेद्येन सेयं बहुमूल्या विद्या फलवती स्यात्।

पीठाध्यक्षः, आधुनिकसंस्कृतपीठस्य,
जगद्गुरुरामानन्दाचार्यराजस्थानसंस्कृतविश्वविद्यालये
राष्ट्रपतिसम्मानितः, भूतपूर्वोऽध्यक्षः, राजस्थानसंस्कृतअकादम्याः
निदेशकचरश्च संस्कृतशिक्षा-भाषाविभागयो राजस्थानसर्वकारीययोः
सी-८ पृथ्वीराज रोड, जयपुर ३०२००१

गुरुमहिम्नः श्लोकस्य तन्त्रार्थः

डॉ. हर्षदेवमाधवः

संस्कृते गुरुवन्दनार्थं प्रसिद्धो वर्तते श्लोकोऽयम्—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरु :साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

सरलोऽयं श्लोको वर्तते। भावार्थोऽपि सरलतः।
गुरुरेवास्ति ब्रह्मा, स एव विष्णुः, स एव महादेवोऽस्ति।
गुरुरेव परंब्रह्म-परमतत्त्वमस्ति। गुरुर्ज्ञानमूर्तिः, द्वन्द्वातीतः, ब्रह्मानन्दरूपः, त्रिगुणातीत इति वर्ण्यते।
गुरुर्ज्ञानकुञ्चिकां दत्त्वा मोक्षद्वारमुद्घाटयति शिष्याय।
अधुना श्लोकस्य रहस्यं ज्ञातुं प्रयत्नं कुर्मः।

गुरुर्ब्रह्मा—कस्माद् गुरुः ब्रह्मा?

१. ब्रह्मा स्थूलविश्वस्य सर्जनं करोति।
गुरुर्ज्ञानरूपस्य जगतो रचनां करोति। गुरोस्सृष्टिः सूक्ष्मा वर्तते।

२. ब्रह्मणः सृष्टिः सान्ता, गुरोर्ज्ञानसृष्टिरनन्ता।

३. ब्रह्मा जीवात्मानं मृत्युदायादं करोति।
गुरु जीवात्मनि परमात्मतत्त्वं बोधयित्वा शिष्यम् अमृतस्य दायादं करोति।

४. ब्रह्मणः सृष्टिः षड्विकारयुक्ताऽस्ति। जायते-अस्ति-वर्धते-परिवर्तते-क्षीयते-नश्यति-इत्येते विकारैः सृष्टिर्दूषिताऽस्ति।
गुरोर्ज्ञानविश्वं सदैवं वर्धते।

५. ब्रह्मणर्विश्वं वासनामयं त्रिगुणात्मकं वर्तते।
गुरोर्विश्वं निःस्वार्थं-कृपापूर्णं त्रिगुणातीतम्।

६. गुरुर्ब्रह्माऽस्ति। 'ब्रह्म' अर्थात् परमतत्त्वम्। ब्रह्म+आ=ब्रह्मा। 'आ' स्वरः परमेश्वर्याः स्वरूपमिति शाक्ततन्त्रे प्रसिद्धम्। यदा ब्रह्मणा परमेश्वर्याः कृपा-शक्तिस्संयुक्ता भवति तदा 'ब्रह्मा' भवति। ब्रह्मणः क्रियाशक्तियुक्तं स्वरूपं 'ब्रह्मा'। गुरुः ब्रह्मवत् न निष्क्रियः, किन्तु ब्रह्मासदृशः क्रियाशीलः, ज्ञानविश्वसर्जनपरोऽस्ति।

७. ब्रह्मा आत्मभूरस्ति। गुरौ ज्ञानशक्तिः। स्वजा। गुरुर्मूत्पिण्डे ज्ञानात्मकं चैतन्यं निधाय विद्यायाः प्रतिष्ठां करोति।

८. ब्रह्मा कमलासनः। गुरुः पद्मासनमुद्रायामुपदिशति।

९. ब्रह्मा हिरण्यगर्भोऽस्ति। गुरुरपि ज्ञान-हिरण्यं स्वगर्भे धारयति।

१०. ब्रह्मा रजोमूर्तिः कथ्यते। गुरुरपि सत्त्वमूर्तिरस्ति किन्तु ज्ञानप्रसारकामना तं रजोमूर्तिं करोति।

११. ब्रह्मा—चतुर्मुखोऽस्ति। गुरोर्व्याख्याने—(अ) ज्ञानवाचनम्, (आ) धारणम्, (इ) ज्ञानपरिमार्जनम्, (ई) ज्ञानसंक्रमणम्—इति चतुर्दिशः वर्तन्ते।

इत्थं गुरुर्ब्रह्मा—ज्ञानविश्वं सृजति। शिष्येभ्यः सर्जनशीलतां प्रबोधयति। ज्ञानपिपासां जनयति।

१२. ब्रह्मा लोकसर्जकोऽस्ति, तदैव वेदानां पिता। गुरुः शिष्याय लौकिकालौकिकविद्यादानं करोति। गुरोर्व्याख्याने वेदज्ञानस्य विस्तारो भवति।

गुरुर्विष्णुः—गुरुरेव विष्णुरस्ति।
विष्—व्यापने+नुक् प्रत्यययोगेन 'विष्णुः' पदं भवति।
विश्—प्रवेशने (विशति) कथितश्च—

यस्माद् विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशधातो :प्रवेशनात्॥

१. गुरुर्शिष्यमनसि प्रविश्य तस्य शक्तीनां पालनं करोति।

२. शिष्यस्य अन्तर्विश्वस्मिन् व्याप्तो भूत्वा सर्वव्यापिनो ज्ञानस्य परिचयं कारयति।

३. शिष्यस्य ज्ञानाग्निं संवर्ध्य ज्ञानस्य पालनं पोषणञ्च करोति।

४. विष्णुरच्युतोऽस्ति। शिष्यज्ञानं च्युतं न भवेत्, शिष्यो ज्ञानमार्गे च्युतो न भवेदिति सङ्कल्प्य शिष्ये स्थैर्यं दृढयति।

५. विष्णुर्विश्वरूपोऽस्ति। गुरुर्ज्ञानक्षितिजानां विस्तारं कृत्वा स्वास्तित्वं विश्वव्याप्तं करोति।

६. गुरुः सुदर्शनोऽस्ति, सुदर्शनयुक्तोऽप्यस्ति। स तीव्रमेधया संशयाश्रद्धाशङ्कानां छेदं करोति। सर्वविद्यास्सूक्ष्मेक्षिकया पश्यन्नसौ पुण्डरीक्षः प्रफुल्लनेत्रोऽस्ति।

७. 'गो' अर्थात् इन्द्रियम्, विन्द-ज्ञाता।
गुरुर्गोविन्दोऽस्ति। शिष्येन्द्रियचाञ्चल्यं दूरीकृत्य शिष्याय स्वस्थतां शुचिताञ्च ददाति।
विष्णुः पालकदेवोऽस्ति। स रक्षकोऽस्ति।
गुरुर्शिष्यस्य ज्ञानं रक्षति, निर्भयतां रक्षति,
विष्णुः प्रभविष्णुरस्ति। गुरोः प्रभावात् शिष्यस्य विद्याप्रभावो वर्धते, तपो वर्धते।

८. विष्णुरिव गुरुश्शक्तिमान्—प्रभावकोऽस्ति। तस्य समीपे—

ज्ञानशक्तिः—Power of knowledge

बुद्धिशक्तिः—Power of intellegence

पूर्णता-शक्तिः—Power of perfection

विचारशक्तिः—Power of thoughts

मनः शक्तिः—Power of mind

सत्यशक्तिः—Power of right views एतास्सर्वाः शक्तयस्सन्ति।

इत्थं सर्वशक्तिमान् गुरुः शिष्यस्य सङ्कल्पान्, विचारान्, ज्ञानप्रदेशान्, भावान्—रक्षति, पालयति।

विष्णोर्दशावताराश्च गुरुश्च—गुरौ विष्णुर्दशावतारदर्शनं भवति। यथा—

मत्स्यः—वेदसद्विद्यानामुद्धारः।

कच्छपः—शिष्यं स्वपृष्ठे धारयति, भयं दूरीकरोति नैराश्यसागराद्, उद्धरति।

नृसिंहः—शिष्यमार्गविघ्नानि विदारयति। सत्योपासनां कर्तुं प्रेरयति।

वामनः—गुरोः स्थूलदेहो न द्रष्टव्यः। स्वस्य ज्ञानविस्तारेण गुरुः सर्वमर्यादा अतिक्रामति।

परशुरामः—शिष्यस्य दर्पगर्वाहङ्कारादीनाम् उच्छेदं कृत्वा युयुत्सां प्रेरयति।

रामः—शिष्याध्ययनं निर्विघ्नं करोति। राक्षसीवृत्तीनां संहारं कृत्वा सुरक्षां ददाति।

कृष्णः—शिष्यरथप्रग्रहं स्वहस्ते धृत्वा स्वधर्मम् उपदिशति।

बुद्धः—मैत्र्यादिभावनानाम् अध्यापनं करोति। शिष्यं प्रति करुणापूर्णो वर्तते।

कल्किः—शिष्यस्य भविष्यत्कालस्य निर्माणं करोति।

गुरुर्देवो महेश्वरः

त्रिमूर्तौ ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः सन्ति। रुद्रः संहारको वर्तते। वृद्धरुद्रोः मणिपुरचक्राधिष्ठाता, किन्तु अत्र महेश्वरशब्दः प्रयुक्तो वर्तते। रुद्ररूपो गुरुः शिष्यस्य वासनाऽलस्यप्रमादव्यसनादीनां संहारं करोति, शिवरूपो गुरुः शिष्यस्य इहलोकपरलोकयोः कल्याणं करोति। अनाहतचक्रस्य स्वामी ईशानः प्रवचनसारं हृदये धारयितुं शिक्षयति। विशुद्धचक्रस्वामी पञ्चवक्त्रः गुरुः आगमानां रहस्यानि उपदिशति। आज्ञाचक्रस्य अधिष्ठाता शिवो गुरुः अज्ञानावरणं नाशयति, मन्त्राणां रहस्यानि दर्शयति। अत एव 'ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र' क्रमेण शिष्यस्य ग्रन्थित्रयं नाशयति सद्गुरुः। '*ललितासहस्रनामस्तोत्रे*' ब्रह्मग्रन्थि-विष्णुग्रन्थिः-रुद्रग्रन्थिः इति तिस्रो ग्रन्थयो वर्णितास्सन्ति।

गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म

देहरूपो गुरुस्त्रिमूर्तिरस्ति, ज्ञानरूपो गुरुः परमतत्त्वस्य रूपमस्ति। *कुलार्णवतन्त्रे* कथितं यद्-

मनुष्यचर्मणाबद्ध :साक्षात् परशिव :स्वयम्।
सच्छिष्यानुग्रहार्थाय गूढं पर्यटति क्षितौ।। —*कुलार्णवतन्त्रम्* १३-५४

यदा 'ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय' इति भेदत्रयं नश्यति तदा परमतत्त्वगुरुतत्त्वयोरभेदो जायते। अत एव श्रीयन्त्रस्य अष्टारे रेखात्रये गुरुमण्डलार्चने गुरुपादुकापूजनं क्रियते।

तस्मै श्रीगुरवे नमः

अस्मिन् श्लोके ब्रह्मविष्णुमहेश्वरैस्सहः गुरोः अभेदं दर्शयित्वा गुरुवन्दना कृता वर्तते। कुलार्णवतन्त्रमत एव गुरुं अत्रिनेत्रं शिवम्, अचतुर्हस्तं विष्णुम्, अचतुर्मुखं ब्रह्माणं मन्यते (*कुलार्णवतन्त्रम्* १३-५७) देवमन्त्रगुरुषु ऐक्यं स्वीकृत्य आध्यात्मिकी यात्रा सिद्धिदा भवति।

अस्मिन् श्लोके निगूढा मन्त्राः

अस्मिन् श्लोके (१) ब्रह्मरूपाय गुरवे नमः। (२) विष्णुरूपाय गुरवे नमः। (३) महेश्वररूपाय गुरवे नमः। (४) परब्रह्मरूपाय गुरवे नमः। इति चत्वारो मन्त्रास्सन्ति।

गुरुमन्त्रस्य विस्तारः

ब्रह्मा गुरुः मूलाधारे सुप्तां कुण्डलिनीं प्रबोधयति। विष्णुर्गुरुः स्वाधिष्ठानयात्रां निर्विघ्नां करोति। महेश्वरो गुरुः मणिपूरानाहतविशुद्धाज्ञाचक्राणि यावत् कुण्डलिनीं जागरितां करोति। परब्रह्म गुरुः आज्ञाचक्रसहस्रार-चक्रयोर्मार्गं प्रशस्तं, निर्विघ्नं कृत्वा शिष्याय मोक्षाधिकारं ददाति।

'नमः' पदेन गुरुभक्तिः सूच्यते। गुरौ देवतायाः ध्यानं कृत्वा ज्ञानप्राप्तिर्भवति। श्लोकेऽस्मिन् 'र' वर्णस्य प्राचुर्यं वर्तते। 'र' वर्णः मणिपूरचक्रवाचको वर्तते। अस्य श्लोकस्य जापेन मणिपूरचक्रं सक्रियं चैतन्यमयञ्च भवतीति आगमरहस्यमस्ति।

८, राजतिलकबंगलो,
आबादनगर समीपे, बोपल
अहमदाबाद ३८००५८
चलवाणी ०९४२७६२४५१६

तन्त्रागम का तात्त्विकरहस्य—अद्वयानन्द

डॉ. प्रभुसिंह यादव

विज्ञानार्थक निगम एवं आगम में 'गम्लृ' सामान्य है। चराचरत्मक जगत् शक्तिशिव संयोग का अविकृत परिणाम है। जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण 'रस' है। यह रस सर्वसार सर्वस्वात्मक निरुपाधिक ब्रह्म का ही पर्याय है जो न मरता है न जीर्ण होता है। वह आनन्द सुधा पारावार है। सदानन्द एवं चिदानन्द उस परमानन्द-सुधासिन्धु की तरङ्गे हैं। अतएव परमार्थत: आनन्दाभिन्न ही हैं। यद्यपि सदभिन्नचित् एवं चिदभिन्न आनन्द एक अद्वय एवं अखण्ड ही है तथापि सहृदयहृदयरसिकों की चर्वणा का विषय बनकर सोपाधिक भी अभिव्यक्त होता है। सोपाधिक या निरुपाधिक है तो रस ही, अत: सिद्धान्तत: तन्त्रागमिक दृष्टि से, महामाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य के मतानुसार उसे 'स्थायित्संवलित चित्' कहा जाता है। 'रति: शृङ्गारतां गता', 'क्रोधो रौद्रात्मतां गत:' इत्यादि सूत्रों के स्वारस्य से तो प्रतीत होता है कि रति उत्साह कारुण्यादि भावों के स्व-स्वोचित विभावानुभावव्यभिचारि भावों के विशेष संयोग से अभिव्यक्त आनन्द रस पदार्थ है। औपनिषदीय सिद्धान्त के अनुसार तो 'रसो वै स:' यह श्रुति 'चिदेव रस:' कह रही है। अत: रत्यादिस्थायिभावों के स्वानुकूल विभावादिसंयोग से परिपुष्ट रत्यादि से अभिव्यक्त आनन्द 'रस' है जो स्वतन्त्र्य है। अर्थात् भरतोक्त आठ स्थायी आठ सात्त्विक, तैंतीस व्यभिचारी, इन उनचास भावों को रस का व्यञ्जक ही मानना चाहिए। **'स्थायीभाव रस है'** या **'स्थायीभावों से अभिव्यक्त आनन्द रस है'** यह सूक्ष्म चिन्तन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्री जी के '*भक्तिरसार्णव:*' में द्रष्टव्य है।

तन्त्रागम में **'चिति: स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु:'** *प्रत्यभिज्ञाहृदय* यह सूत्र प्रसिद्ध है। किन्तु वेदान्त में वह ब्रह्म की अनन्तानन्त-प्रपञ्चोत्पादिनी परमान्तरङ्गा शक्ति है। आद्यशङ्कर भगवत्पाद निर्विशेष ब्रह्म को ही शक्त्यवच्छिन्न होने पर जगदुत्पत्तिस्थिति संहृति में समर्थ कहते हैं। अखण्ड अद्वैतब्रह्म एकाकी रमण नहीं कर पाने की स्थिति में द्वितीय की इच्छा करता है तभी वह स्वान्तरङ्गा अनन्तानन्त विश्वप्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति का उपाश्रयण करता है। अन्यथा कूटस्थ अव्यय ब्रह्म में तो स्पन्दन सम्भव ही नहीं है। आद्यशङ्कर भगवत्पाद पूर्व प्रवर्त्तित आचार्य परम्परा के अनुसार ही 'उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता' की व्याख्या करते हैं। सनातन आचार्यपरम्परा 'अनादि नारायण' से प्रारम्भ होती है। यह प्रसिद्ध होते हुए भी उद्धृत की जाती है जो निम्नलिखित है—

नारायणं पद्म भुवं वशिष्ठम्
शक्तिं च तत्पुत्र पराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तम्,
गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।

श्रीमद्भागवत के अनुसार आदिदेव 'चतुर्मुख' ब्रह्मा को नारायण कृपा से ही बीजरूप में प्रणवात्मकवेद उपलब्ध हुआ वही 'साङ्गोपाङ्गवेदवृक्ष' है। वह अकृत्रिम है। निश्वासन्याय से वह ब्रह्मा के माध्यम से प्रकट होता है। उसके ऋषि छन्द देवता आदि सब नित्य हैं तथा उन्हीं शब्दों से सृष्टि के नामों एवं रूपों की कल्पना होती है। 'पुरुष सूक्तम्' प्रतिपादित सृष्टिविज्ञान सनातन है। सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय रूप कार्यों का उपादान कारण प्रकृति अवश्य है किन्तु बिना निमित्त के उपादान में क्रिया सम्भव नहीं है। महाप्रलय में प्रकृति अपने कारण ब्रह्म में ही लीन रहती है। इसीलिये 'ब्रह्म' को ही निमित्त एवं उपादान दोनों कारण मानते हैं।

'देव्यथर्वशीर्ष' श्रुति में भगवती स्वयं कहती है, 'अहं ब्रह्मस्वरूपिणी', 'मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्।' अर्थात् ब्रह्म सृष्ट्यर्थ स्वयं ही 'निमित्त' (शिव) एवं 'उपादान' रूपों में प्रथमतः विवर्त्तित होता है। यही रहस्य 'रास' क्रीडोपपत्यर्थ कृष्ण के योगमायोपाश्रयण का भी है जिसे श्रीशुकदेवजी महाराज ने उन्मीलित किया है–

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।।

यही तथ्य *सौन्दर्यलहरी* के **'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्'** इस वाक्य में आद्यशङ्कर भगवत्पाद भी व्यक्त करते हैं। गीता में व्यास भी इसी तथ्य का अभिधान कर रहे हैं—

'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।'
'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।।'

जो 'अहं ब्रह्म स्वरूपिणी' 'मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्' इस श्रुति का ही उपबृंहण है। 'रामसीता', 'राधाकृष्ण', 'पार्वतीपरमेश्वरः', 'लक्ष्मीनारायण' ये सभी दिव्य दम्पती 'अहम्' की ही नित्य अभिव्यक्ति हैं। 'अहम् ही त्वम्' भी है। **'सात्वमस्यमोहम्' 'अमोऽहमस्मि' 'ऋक् त्वं द्यौरहम्' 'तावेहि विवहावहै सहरेतो दधावहै प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्धावहै बहून्।'** इस प्रकार अद्वितीय ब्रह्म का विवर्त्त प्रकृतिपुरुषात्मक जगत् है। ब्रह्मविवर्त्त जीवों में भी 'स्त्रीपुंभाव' सनातन है जो 'साहित्य' पदार्थ है। काव्य भी ज्ञानात्मक होने से शब्दरूप है, ज्ञान ही चित् है। इसीलिये पण्डितराज अभिनवगुप्त के आगम सम्मत रस सिद्धान्त को अपसिद्धान्त नहीं मानते क्योंकि अभिव्यङ्ग्य का अधिष्ठान अभिव्यञ्जक है। उन दोनों का सम्बन्ध साहित्य अभिधा विशेष से है। वक्तव्य में उसीकी प्रधानता है। शास्त्र में शब्द की, इतिहास में अर्थ की तथा काव्य में अभिधा की प्रधानता का निर्वचन भगवान् अग्नि ने 'साहित्याध्याय' में किया है। 'अभिधा' संकेतसहाय्य शास्त्रसिद्ध है। वह लोक में भी प्रसिद्ध है।

'काव्याभिधा' को लोकशास्त्रप्रसिद्ध अभिधा से व्यावृत्यर्थ 'व्यञ्जना' कहा गया है। लोकशास्त्रसिद्ध अभिधा व्यञ्जना का आधार है। 'साहित्यशास्त्र' निगमागमसम्मत वेदार्थ के उपवृंहण की कान्तासम्मित प्रणाली है। विधि में शब्द की तथा अर्थवादों में अर्थ की प्रधानता को मीमांसक भी मानते ही हैं। व्यञ्जना की कर्मकाण्ड एवं उपासनाकाण्ड में आवश्यकता नहीं है किन्तु नैर्गुण्यनिष्ठ अक्षर ब्रह्म के उपासकों को चित्त को

अलौकिक आनन्द देने के लिए अरूप की रूपवत्ता लोकोत्तराह्लाद रसचवर्णार्थ आवश्यक है। एतदर्थ अनामरूप रस के अभिव्यक्त्यर्थ नाम रूपात्मक निर्वचन अनिवार्य है।

रस वस्तुत: अनाम है क्योंकि वह शब्दातीत है। वह अरूप है क्योंकि नयनागोचर है। नयनजिह्वाहीन है तथा जिह्वा नयनहीन है। जैसे ब्रह्म का साक्षात्कार अनुभवात्मक है वैसे ही ब्रह्मानन्द सहोदर का साक्षात्कार भी अनुभवात्मक ही है। अलौकिकता उभयत्र है। काव्यात्मविज्ञान या दर्शन वस्तुत: आगममूलक है और वह निगमाविरोधी है। अन्तर इतना ही है कि आगम की प्रकृति जीवभूता तथा कापिलसांख्य की प्रकृति जड़ा है। ब्रह्मसूत्र में सांख्यसम्मत जड़ प्रकृति में ईक्षणाभाव के कारण स्वातन्त्र्येण जगत की कारणता का प्रत्याख्यान है। किन्तु आगमाधिष्ठात्री चेतनारूपा परा प्रकृति की परम पुरुष सहकृति सापेक्ष जगत की कारणता का कहीं भी किसी ने प्रत्याख्यान नहीं किया है। सिद्धान्तत: 'जड़, चेतन, ईश्वर' तीनों ही ब्रह्म के अतात्त्विक अन्यथा भाव मात्र हैं, विवर्त्त हैं। षड्विधा भावविकार अपरा प्रकृति में है।

प्रकृति में परिणमन सम्भव है। ब्रह्म तो सर्वदा अविकृत ही है। वही 'रसौ वे.' श्रुति का लिलक्षयिषित है। ब्रह्म ही अशेषविशेषातीत अद्वय एक अखण्ड है। लीलोपपत्त्यर्थ वही प्रकृति पुरुष रूप में विवर्तमान है। प्रकृति पुरुष के अलौकिक संयोग से वही परमानन्द अभिव्यक्त होता है। निर्विकल्पसमाधि में साक्षात् क्रियमाण अखण्डानन्द ही ज्ञानी को लुभाने के लिए पार्वती-परमेश्वर रूप में प्रकट होता है। यही प्रकटता अभिव्यक्ति है। यही साहित्यसारसर्वस्व है। वही सत् काव्य की आत्मा है। इसीलिए कविकुलगुरुकालिदास काव्य के परमरहस्य का उन्मीलन करते हुद *रघुवंश* नामक परमदिव्य काव्य में मङ्गलोपक्षेप करते हुए कहते हैं—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिप्रत्तये।
जगत :पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।

पार्वती श्रद्धा है। परमेश्वर विश्वास है। पार्वती प्रकृति है। परमेश्वर प्रत्यय है। प्रकृति शब्द है। प्रत्यय अर्थ है। रस दोनों के संयोग से निष्पद्यमान स्वसंवेदनाभिन्न ज्ञान है जो आनन्द है। काव्यानन्द इसीलिए ब्रह्मानन्द सहोदर है।

पराप्रकृति की स्वतन्त्रता वस्तुत: परमपुरुष की तदधीनता है। इसीलिए शिवा शिव को स्वाधीन करती है, स्वाधीन वल्लभा है। बिना शिवा की प्रेरणा के शिव निष्पन्द ही रहता है। तमोगुण के स्वामी रुद्र सत्त्व एवं रज के भी कारण है। जब तक कारण में स्पन्दन नहीं होगा तब तक सत्त्व एवं रज भी निष्क्रिय ही रहते हैं। अत: कारण ब्रह्म शिव की स्वाधीनता के लिए नगाधिराजनन्दिनी की उग्रतपस्या का रमणीय वर्णन *कुमारसम्भव* में है। *सौन्दर्यलहरी, रासपञ्चाध्यायी* प्रभृति प्रकरणों के अनुसार शक्ति शिव को स्वाधीन कर चराचरात्मक जगत् को सच्चिदानन्द महासमुद्र की तरङ्गों से आप्लावित करती है।

वास्तव में शक्ति एवं शिव में भेद भी है, अभेद भी है, भेदाभेद भी है। क्या है, क्यों है, कैसा है, कैसी है, यह सब अचिन्त्य अव्यपदेश्य है किन्तु है लोकोत्तर आनन्दात्मक ही। अत: वह सर्वथा मनोवाचामगोचर ही है। विषयानन्द काव्यानन्दादि, आपामर बिन्दु रूप में कण-कण में व्याप्त अनन्तानन्द आनन्दों का महासमुद्र निरवधिक निरुपाधिक सर्वसारसर्वस्व है। इसीलिए उसे भगवती श्रुति **'सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**,

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' कहती हुई जब अभिधान में अपने परम वेद्यतम, प्रियतम के निर्वचन में मूकायित होती है तो खञ्जन मञ्जुलतिर्यङ् नयनारविन्द से संकेतमात्र करती है—'रसो वै स:'। फिर मातृभाव से अज्ञानी जीवों, पुत्रों पर माता की तरह वात्सल्यमयी होकर बता देती है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म तद् विजिज्ञासस्व।

इसीलिए काव्य को रसात्मक कहा गया है। वेद तो ब्रह्म का ही रमणीय काव्य है—**पश्य देवस्य काव्यम्। न ममार न जीर्यति।** ब्रह्म ही वेद है जो अत्यन्त अलौकिक आनन्दसुधा सिन्धु है। शब्द और अर्थ तो उसीकी सदानन्द एवं चिदानन्द तरङ्गे हैं जो आनन्दसुधासिन्धु से अभिन्न है तथापि तरङ्गे समुद्र में उठती है, उसीमें लीन हो जाती है—**सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः**। यही अद्वयानन्द आगम का परम रहस्य तथा निगम का चरम प्रतिपाद्य है।

उपाचार्य एवं अध्यक्ष
साहित्य विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शाम्भववेदान्त की परम्परा एवं शाक्तदर्शन

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

भारतीय दर्शन की प्रधान शाखा वेदान्त दर्शन है। यद्यपि सबसे पहले अद्वैत मत प्रवर्तित हुआ। इसकी प्रतिष्ठापना के पश्चाद् परवर्ती दार्शनिकों ने वैष्णव परक व्याख्याएँ विविध-दृष्टि से की हैं। आचार्य रामानुज 'प्रपत्ति' माध्व 'जीवदैन्य' निम्बार्क 'माधुर्य आहोस्वित् सौन्दर्य', चैतन्य 'प्रेमा' तथा वल्लभ 'पुष्टि' पर बल दे रहे हैं, तथा अद्वैत मत की ज्ञानभक्ति ही साध्य है। वैष्णवी व्याख्या के पश्चात् वेदान्त के प्रस्थानों की शाम्भवी व्याख्या भी आचार्य गणों के द्वारा प्रस्तुत हुई। *ऋग्वेद* में रुद्र की स्तुति उपलब्ध है। *तैत्तिरीय संहिता* ४.५.१ और *वायसनेयि संहिता* अध्याय १६ का शिवरुद्रीय रुद्र या शिव के स्वरूप को अच्छी तरह वर्णित करता है/ *रुद्राष्टाध्यायी* शिव के उपासना में महत्त्वपूर्ण स्थान आज भी रखती है। *श्वेताश्वतरोपनिषद्* में शिव को महेश्वर तथा मायी कहा गया है–

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।

केन उपनिषद् में उमा हैमवती का उललेख है, किन्तु वहाँ उमा को शिव की पत्नी नहीं कहा गया है। कालान्तर में यही उमा शिव की पत्नी के रूप में प्रतिपादित हुई है। महाभारत एवं पुराणों में शिव तथा शैव मत का बहुधा वर्णन प्राप्त होता है। कुछ पुराण तो शुद्ध शैवमत के हैं जैसे *शिवपुराण।* वामन पुराण में शैवों के चार मत बताए गए हैं—शैव, पाशुपत, कालदमन और कापालिक। कालदमन को वाचस्पति मिश्र *भामती* ३.२.७ में कारुणिक सिद्धान्ती कहते हैं। *आगम प्रामाण्य* , पृ. ४८-४९ में यामुनाचार्य उनको कालामुख कहते हैं तथा इसी नाम से यह मत प्रसिद्ध भी हुआ है। अत: निष्कर्षत: शाम्भव वेदान्त चार उपसम्प्रदायों में विभक्त है—(१) काश्मीर शैव मत, (२) वीर शैवमत, (३) शैव सिद्धान्त, और (४) पाशुपत मत। परन्तु पाशुपत का अब लोप दिखाई देता है। अब चतुर्थ सम्प्रदाय शाक्त मत है। काश्मीर शैव मत का प्राधान्य काश्मीर में, वीर शैव मत का कर्णाटक में तथा शैवमत का प्रचार-प्रसार तमिलनाडु में तथा शाक्त मत का प्राधान्य पूर्वोत्तर राज्यों में रहता था। परन्तु अब ये मत सर्वत्र प्रसारित हो चुके हैं। इन सभी शाम्भव वेदान्तों का मूलाधार आगम-परम्परा है तथापि वैदिक परम्परा में भी शिव का प्रामाण्य सर्वथा स्वीकृत ही है। शिव वैदिक एवं अवैदिक उभय परम्परा में मान्य रहे हैं। अत: महादेव एवं महेश्वर से इनका ही ग्रहण होता है। आगम परम्परा के ग्रन्थों का विवेचन महामहेश्वर अभिनव गुप्त ने विस्तार से किया है। भैरव आगम ६४, शैव आगम १० तथा रौद्र आगम १८ माने गये हैं। शैव एवं रौद्र आगम शिव की प्रधानता स्वीकृत करते हैं

जबकि भैरवागम शक्ति की प्रधानता सिद्ध करते हैं। अत: इन्हें शाक्तागम भी कहा गया है। इस तरह शाम्भव वेदान्त की विस्तृत आगम ग्रन्थ परम्परा समुपलब्ध है, जो इस सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थ समझे जाते हैं—

१ .पाशुपत मत

इस मत के संस्थापक नकुलीश या लकुलीश हैं। इसका प्राचीन साहित्य *'पाशुपत सूत्र'* है जो मृगेन्द्र आगम के आधार पर रचा गया है। इसमें ५ अध्याय एवं १६८ सूत्र हैं। *सर्वदर्शन संग्रह* में इसे नकुलीश पाशुपत के रूप में उद्धृत किया गया है। इसके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में हरदत्त की *गणकारिका* तथा उस पर भासर्वज्ञ की (८०० ई.) रत्न टीका है। अत: सामान्यत: वैशेषिकों को पाशुपत कहा गया है। न्याय उद्योतकर के रचयिता उद्योतकर अपने को पाशुपत आचार्य कहते हैं। मेवाड़ के एकलिङ्गनाथ इसी प्राचीन परम्परा के मत से सम्बन्धित हैं।

२ .शैव सिद्धान्त

यह सम्प्रदाय १० शैवागमों तथा १८ रौद्रागमों को सर्वोपरि प्रमाण मानता है। भगवान् शङ्कर के पाश्च मुखों से इन आगमों की उत्पत्ति हुई है। इन २८ उपगमों के अतिरिक्त १४ तमिल भाषा के ग्रन्थ भी प्रमाण स्वरूप स्वीकृत हैं। इनमें प्राचीन तमिल ग्रन्थकार तिरुमूलर है जो प्रथम शती के थे। इनसे लेकर आठवी शती तक ६३ शिवाचार्य और हुए हैं, जिन्हें नायनमार या अण्डियार कहा जाता है। इनकी जीवनी *पेरियार-पुराण* में लिखी है। इनके गीतों एवं पदों का संग्रह तमिल वेद कहलाता है। इसमें ११ अध्याय हैं। यह ग्रन्थ आज भी मन्दिरों में श्रद्धा से पढ़ा जाता है। इनके अनुसार शैवभक्तों के चार मार्ग हैं—दास मार्ग, सत्पुत्र मार्ग, सखा मार्ग एवं सन्मार्ग। इन शिवाचार्यों के बाद सद्योज्योति ने ६ ग्रन्थ लिखे हैं—१. *नरेश्वर परीक्षा, रौरवागम* की वृत्ति, २. *तत्त्व संग्रह*, ३. *तत्त्वत्रय*, ४. *भोगकारिका*, ५. *मोक्ष कारिका*, ६. *परमोक्ष कारिका।* फिर रामकण्ठ ने *नादकारिका*, उनके शिष्य श्रीकण्ठ ने *रत्नत्रय* लिखा। भोज राज ने *तत्त्वप्रकाशिका* लिखी। १२वीं शताब्दी में अघोर शिवाचार्य ने *नादकारिका* तथा *तत्त्वप्रकाशिका* का भाष्य लिखा। यह मत अद्वैत तथा सांख्य मत का समन्वय करता है। कुछ न्यायदर्शन की सहायता लेता है। अत: द्वैतवादी प्रतीत होता है। इनके तीन तत्त्व हैं—पति, पशु और पाश।

३ .वीर शैवमत

२८ शिवागमों में वीर शैवमत के बीज छिटके पड़े हैं। १२वीं शताब्दी में बसव ने कर्णाटक में *बसवपुराण* ग्रन्थ लिखा जो कन्नड भाषा में है। ११६० ई. में शिवानुभव मण्डप नायक संस्था बनाई जिसने वीर शैवमत का प्रसार किया। रेवणाचार्य ने *सिद्धान्त शिखामणि* ग्रन्थ लिखा, श्रीपति ने *ब्रह्मसूत्र* पर *श्रीकर* भाष्य लिखकर इसे उपनिषत्मूलक सिद्ध किया। इस परम्परा में मयिदेव की *शिवानुभवसूत्र*, नन्दिकेश्वर की *लिङ्गधारण चन्द्रिका*, मारितोन्दार्य का *वीरशैवाण्ड चन्द्रिका* तथा अल्लकम की *प्रभुलिङ्गलीला* प्रामाणिक

ग्रन्थ माने जाते हैं। कन्नड भाषा में श्रीकुमारस्वामी ने *वीरशैवदर्शन* ग्रन्थ लिखा है। परम्परा के अनुसार बसव के पूर्व पञ्च महापुरुषों ने पञ्चशिवलिङ्गों से प्रकट होकर इस मत को पुष्ट किया। रेणुकाचार्य, दासकाचार्य, एकोरोमाचार्य, पण्डिताराध्य तथा विश्वाराध्य क्रमशः इन पाञ्च शिवलिङ्गों से प्रकट हुए—सोमेश्वर, सिद्धेश्वर, रामनाथ, मल्लिकार्जुन एवं विश्वनाथ। इन आचार्यों में क्रमशः वीरसिंहासन का रम्भापुरी मैसूर में, सद्धर्म सिंहासन उज्जैन में, वैराग्य सिंहासन को केदारनाथ, सूर्यसिंहासन श्रीशैल तथा ज्ञान सिंहासन को जंगमवाडी काशी में स्थापित किया है। इसी मत को लिङ्गायत भी कहा जाता है क्योंकि इनमें अनुयायी लिङ्ग धारण करते थे। अतः लिङ्गायत या वीर शैव कहे गये हैं।

४ .काश्मीर शैव मत

इस मत में दस शैवागम १८ रौद्रागम तथा ६४ भैरवागमों अर्थात् ९२ आगमों की मान्यता है। इस मत के मूल प्रवर्तक वसुगुप्त हैं। ये लगभग ८२५ ई. थे। इन्होंने *शिवसूत्र* और *स्पन्दकारिका* की रचना की। वसुगुप्त के दो शिष्य थे—कल्लट एवं सोमानन्द। कल्लट की कृति है—*स्पन्दसर्वस्व* तथा सोमानन्द की *शिवदृष्टि* तथा *परात्रिंशिकावृत्ति* है। सोमानन्द के शिष्य उत्पलाचार्य ने *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका* तथा उसकी दो वृत्तियाँ लिखीं। इसमें इन्होंने बौद्धमत का खण्डन कर शिव अद्वैतवाद की प्रतिष्ठापना की। उत्पल के प्रशिष्ट अभिनव गुप्त ने *तन्त्रालोक, तन्त्रासार, परमार्थसार, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, मालिनी विजयवार्तिक* आदि ग्रन्थ लिखे। इनके शिष्य खेमराज ने *प्रत्यभिज्ञाहृदय, शिवसूत्रविर्शिनी, स्वच्छन्दतत्त्व, विज्ञानभैरव, नेत्रतन्त्र उद्योत* तथा *स्पन्दसन्दोह* लिखे। योगराज की *परमार्थवृत्ति,* उत्पल वैष्णव की *स्पन्दप्रदीपिका,* वरदराज का *शिवसूत्रवार्तिक,* जयरथ की *तन्त्रालोकटीका,* रामकण्ठ की *स्पन्दकारिका* महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस दर्शन को त्रिक मत भी कहा गया है। पति, पशु तथा पाश ये तीन तत्त्व हैं। इसे स्पन्द दर्शन प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी कहाजाता है। मोक्ष के तीन उपाय हैं—शाम्भव, शाक्त एवं आणव। प्रत्येक में योगाभ्यास की आवश्यकता है। चौथा मार्ग है—प्रत्यभिज्ञा जिसमें बिना योगाभ्यास के अपनी आत्मा को पहचानना है। कबीर का पारख मत इस पर आधृत है।

इस दर्शन में ३६ तत्त्वों की मीमांसा स्वीकृत है। सांख्य के अनुरूप प्रकृति से लेकर महाभूत तक २५ तत्त्व हैं। ११ तत्त्व नये हैं—माया, कला, राग, काल, नियति, शिव, शक्ति, सदाशिव ईश्वर और शुद्ध विद्या। इनमें छः तो शैव सिद्धान्त से लिये गये हैं, अन्तिम पाँच काश्मीर शैव मत के हैं। इस मत में शिव एवं शक्ति एक-दूसरे से अभिन्न हैं। शिव के बिना शक्ति नहीं है तथा शक्ति के बिना शिव भी नहीं होता है। शिव तथा शक्ति एक ही परमेश्वर के दो रूप हैं। शिव प्रकाश है तथा शक्ति उसका विमर्श है।

आधुनिक युग में महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने त्रिकदर्शन के अद्वैत को शङ्कर के अद्वैत से श्रेष्ठ माना। ईश्वराद्वयवाद को ही सम्पूर्ण भारतीय दर्शन की पराकाष्ठा कहा है। यह पराकाष्ठा शैवमत में वैसे ही हुई है जैसे वैष्णवमत की पराकाष्ठा। चैतन्य के अचिन्त्य भेदाभेद से हुई है। शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से चैतन्य मत एवं त्रिकदर्शन एक ही धरातल पर है। शिवभक्ति एवं ईश्वराद्वय के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, जिसे शिवत्वप्राप्ति या चिदानन्द लाभ कहा गया है।

५ .शाक्तमत

यह मत काश्मीर शैवमत के सभी आगमों को तो मानता ही है परन्तु साथ में कुछ शाक्तागमों का प्रामाण्य स्वीकार करता है। सभी आगमों को तन्त्र कहा जाता है। अत: शाक्ततन्त्रों के अतिरिक्त जैन, बौद्ध तथा वैष्णवतन्त्र भी इसके बढ़ते हुए प्रभाव को परिलक्षित करते हैं। *सौन्दर्यलहरी* के टीकाकार लक्ष्मीधर ने ६४ शाक्तागमों का उल्लेख किया है। इनके वक्ता शिव तथा श्रोता पार्वती हैं। इसमें दो सम्प्रदाय हैं— श्रीविद्या एवं कालीकुल। दोनों सम्प्रदाय एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। श्रीविद्या में आद्या शक्ति को ललिता या त्रिपुरसुन्दरी के रूप में लिया है जबकि कालीकुल में उग्र या चण्डरूप माना गया है। इसका साहित्य विशाल है। अगस्त्य का *शक्तिमहिम्नसूत्र,* दुर्वासा का *परशम्भुस्तोत्र, ललितास्तवरत्न,* परशुराम का *परशुरामकल्पसूत्र,* गौडपाद का *श्रीविद्यारत्नसूत्र* शङ्कराचार्य की *सौन्दर्यलहरी, प्रपञ्चसार* जिस पर पद्मपाद की टीका है। लक्ष्मण देशिक का *शारदातिलक,* विद्यारण्य का *श्रीविद्यार्णव, ज्ञानार्णव, त्रिपुरार्णव, महार्थ मञ्जरी,* पुण्यानन्द की *कामकलाविलास,* नटनानन्द की *चिद्वल्ली* शाक्त मत के प्रधान ग्रन्थ हैं। *नित्याषोडशिकार्णव, नित्योत्सव, श्रीतत्त्वचिन्तामणि, प्रपञ्चसारतन्त्र, आगमरहस्य, सिंहसिद्धान्तसिन्धु, देवी भागवत।* अनेक शाक्त उपनिषद् भी अब प्रकाशित हो गये हैं। इनमें मुख्य हैं—कौल, त्रिपुरा, भावना उपनिषद्। पुराणों में ललितासहस्रनाम, दुर्गासप्तशती, देवीगीता इस मत के प्रख्यात ग्रन्थ हैं। भास्कर राय (१७२३-१७४० ई.) ने ललिता सहस्रनाम का *सौभाग्य भास्कर भाष्य,* गणेश सहस्रनाम का *खद्योत भाष्य, वरिवस्या रहस्य,* योगिनी हृदय की व्याख्या, तृच भास्कर, *भावनोपनिषद्* में इस गुप्त विद्या के अनेक रहस्यों को उद्घाटित किया है। काली कुल के मुख्य ग्रन्थ *काल ज्ञान, कालोत्तर, महाकाल संहिता, व्योमकेश संहिता, जयरथयामल, उत्तर तन्त्र शक्ति संगम* तन्त्र ग्रन्थ है।

यह शाक्त मत परम गोपनीय माना जाता है। परन्तु अद्वैत के धुरन्धर आचार्यों ने इसकी उपासना पद्धति से अद्वैतत्व की सिद्धि की है। *त्रिपुर सुन्दरी* रहस्य में कहा है—

भक्त्यर्थं भावितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।

अर्थात् श्रीविद्या की उपासना सर्वोत्तम व्यावहारिक पक्ष है। मोक्ष एवं भोग का निरसन करते हुए परमात्मा से योग ही इसका परम ध्येय है। शिवशक्ति का सामरस्य शैव तथा शक्त दोनों मानते हैं। शैव उसे शिव तथा शाक्त उसे शक्ति कहते हैं। शैव मत ज्ञान प्रधान है तथा शाक्त मत इच्छा प्रधान है। चैतन्य में प्रधानता इच्छा या विमर्श की होती है। शक्ति सृष्टि, स्थिति संहार, तिरोधान एवं निग्रह रूपी पाँच कृत्यों को करती है। वह लीलामयी एवं लीलातीत है। इस दर्शन में स्त्री का प्राधान्य स्वीकृत है। शाक्तों ने हठयोग, राजयोग, लययोग तथा मन्त्रयोग का विकास किया। इनका शास्त्र वास्तव में साधना एवं धर्मशास्त्रों की व्यावहारिक व्याख्या में अद्वितीय हैं। इनकी क्रियायें रहस्यात्मक हैं परन्तु शिवत्व प्रदान करने की अद्भुत सामर्थ्य वाली है।

श्रीविद्यारण्य *देव्यपराधक्षमापन* स्तोत्र में इस मत के परमलक्ष्य को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

न मोक्षस्याकाङ्क्षा, भवविभववाञ्छाऽपि च न मे,
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि: सुखेच्छापि न पुन:।
अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै,
मृडाणी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपत:।।

अत: शक्त्युपासना ही परम लक्ष्य सिद्ध होती है। मोक्ष एवं भोग भी यहाँ साधनरूप में है साध्य रूप में तो परासर्या ही है। इसी तरह शाक्त साधक भक्त के रूप में रावण भी अपने *शिवताण्डवस्तोत्र* में निम्न भाव स्पष्ट करते हैं—

कदा निलिम्पनिर्झरि निकुञ्जकोटरे वसन्,
विमुक्तदुर्मति: सदा शिरस्थमञ्जलिं वहन्।
विलोललोललोचनो ललामभाललग्नक:
शिवेति मन्त्रमुच्चरन् कदा सुखी भवाम्यहम्।।

अत: परमात्मा से योग ही इनका अभीष्ट है। इस शक्तिमत की दिव्यता है इसमें न तो निवृत्ति ही है न ही प्रवृत्ति है अपितु शाक्त साधना के द्वारा परमपद की प्राप्ति है, अत: कहा जाता है—

यत्राऽस्ति मोक्षो न हि तत्र भोग:।
यत्रास्ति भोगो न हि तत्र मोक्ष:।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणाम्
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।

इस शाक्त मत के प्रतिष्ठापक आचार्य शङ्कर ही हैं। अत: सम्प्रदाय भेद होने पर भी धर्म भेद नहीं होता है, ऐसी मान्यता है।

सह-आचार्य, दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर-३०२००४

तन्त्र शास्त्र में मन्त्रार्थ पद्धति

डॉ. आशुतोष अङ्गिरस

दुर्बोधा वैदिका :शब्दा :प्रकीर्णत्वाच्च तेऽखिला:।
तथैव एव स्पष्टाथार्था :स्मृतितन्त्रे प्रतिष्ठिता:।।

वेद के शब्द दुर्बोध हैं उनका सम्बन्ध नहीं मालूम होने के कारण कठिन मालूम होते हैं। 'स्मृति' और 'तन्त्र' में उनका अर्थ स्पष्ट किया गया है। आचार्य भास्करराय ने अपने विश्रुत ग्रन्थ *वरिवस्या रहस्य* में मन्त्रार्थ पद्धति को स्पष्ट किया है। वेद विशुद्ध ब्रह्म विद्या है। इसमें ऋषियों की ब्रह्म विद्या की स्वानुभूति का विवरण है। जो ब्रह्म विद्या की साधना करते हैं वे इसे स्वानुभूति के रूप में पाते हैं। इसे तर्कमूलक और सङ्कल्प विकल्पात्मक लेख, साहित्य या दर्शन की तरह पढ़ने से सर्वदा भ्रान्ति होगी। वेद-मन्त्र साधना और ब्रह्मानन्द के विषय हैं। वेद के इस रूप को ध्यान में रखकर कहा गया है कि—

ये त्वतार्किका भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। —*वाक्यपदीय*

अर्थात् जो तर्क-वितर्क के बाहर अनुभव की वस्तुएँ हैं, उन्हें तर्क के क्षेत्र में न लाया जाए। इसलिए तन्त्र वेद व्याख्या का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहता है कि जिस शक्ति के विमर्श से अर्थ, शब्द, चक्र और देह प्रकट होते हैं, उसे अवश्य जानना चाहिए—

साऽवश्यं विज्ञेया यत्परिणामादभूदेषा।
अर्थमयी शब्दमयी चक्रमयी देहमय्यपि च सृष्टि:।। —*वरिवस्या रहस्य १-५*

इसलिए उस शक्ति विमर्श का प्रतिपादन करने वाली चौदह विद्याओं को अवश्य जानना चाहिए, जिनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण वेद हैं और वेदों में भी सबसे महत्त्वपूर्ण गायत्री है और वह गायत्री द्विरूपा है—स्पष्ट रूपा और अस्पष्ट रूपा। गायत्री का स्पष्ट रूप वेदों में हैं और अस्पष्ट रूप जिसे 'श्रीविद्या' कहते हैं वह अत्यन्त गोपनीय है।

तज्ज्ञानार्थमुपाया विद्या लोके चतुर्दश प्रोक्ता:।
तेष्वपि च सारभूता वेदास्तत्रापि गायत्री।। —*वरिवस्या रहस्य १-६*

तस्या रूपद्वितयं तत्रैकं यत्प्रपठ्यतेऽस्पष्टम्।
वेदेषु चतुर्ष्वपि परमत्यन्तं गोपनीयतरम्।। — *वरिवस्या रहस्य १-७*

वेद भी इस विद्या के विषय में साङ्केतिक शब्दों का ही व्यवहार करते हैं, जैसे–**'कामो योनिः कमलेत्येवम्'** आदि।

तन्त्र शास्त्र का मत है कि व्याख्या करने से पहले मन्त्र के वर्णों का उत्पत्ति स्थान, उच्चारण प्रकार एवं काल की मात्रा का अवश्य ज्ञान होना चाहिए। नहीं तो व्यक्ति व्याख्या का और अनुभव का अधिकारी नहीं हो सकता।

तत्पश्चात् वैदिक मन्त्र के अर्थ ज्ञान का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए तन्त्र की मान्यता है कि सत्य अर्थ के बोध के बिना किया गया मन्त्रोच्चारण निष्फल होता है—

नार्थज्ञानविहीनं शब्दस्योच्चारणं फलति।
भस्मनि वह्निविहीने न प्रक्षिप्तं हविर्ज्वलति।। —*वरिवस्या रहस्य २-५४*

और भी वे व्यक्ति जो केवल मन्त्र के विभिन्न वर्णों के उच्चारण में कुशल होते हैं और अर्थ का ज्ञान नहीं रखते वे चन्दन की लकड़ी का भार ढोने वाले गर्दभ के समान हैं। अत: तन्त्र का निर्देश है कि वे व्यक्ति जो पुरुषार्थ सिद्ध करना चाहते हैं वे अर्थ का ज्ञान अवश्य प्राप्त करें और जो अर्थ ज्ञान की उपेक्षा करते हैं उनके लिए कोई भी पुरुषार्थ नहीं है और वे अनर्थ को प्राप्त होते हैं—

पुरुषार्थानिच्छद्भिः पुरुषैरर्थाः परिज्ञेयाः।
अर्थानादरभाजां नैवार्थ :प्रत्युतानर्थः।। — *वरिवस्या रहस्य २-५६*

इसी अपेक्षा से तन्त्र मन्त्र के अर्थ निष्पादन करता है और यह अर्थ निष्पादन कई भागों में कई स्तरों पर होता है जैसे जब किसी मन्त्र का अर्थ करना हो तो सबसे पहले उसमें पूर्ण गायत्र्यर्थ (गायत्री पद का मूल अर्थ चित्त शुद्धि अथवा चित्त शुद्धि जिसके द्वारा वेदार्थ के मूल बोध के योग्य साधक की भावभूमि बनाई जाती है) फिर भावार्थ, फिर सम्प्रदायार्थ, फिर निगर्भार्थ, तत्पश्चात् कौलिकार्थ, रहस्यार्थ, महातत्त्वार्थ, नामार्थ, शब्द रूपार्थ, नामैकदेशार्थ, शाक्तार्थ, सामरस्यार्थ, समस्तार्थ, सगुणार्थ और महावाक्यार्थ का ज्ञान होना चाहिए। इस प्रकार तन्त्र के ये क्रमश: पन्द्रह अर्थ ही वेद की तान्त्रिक व्याख्या पद्धति हैं और यह पद्धति केवल गुरु-शिष्य के मध्य में अथवा पिता-पुत्र के मध्य में ही घटित होती है। इसका सामान्य रूप से प्रकाशन निषिद्ध है और इसे अत्यन्त गोपनीय माना जाता है।

१ .पूर्ण गायत्र्यर्थ

जब मन्त्र की व्याख्या करनी हो या स्वयं अर्थ बोध करना हो तो सबसे पहले मन्त्र के पूर्ण गायत्र्यर्थ की भावना करनी चाहिए। अर्थात् मन्त्र की बीज के रूप में खोज करनी चाहिए क्योंकि बीज में ही मन्त्र के अर्थ की सम्भावनाएँ निहित होती हैं। यह बीज ही मन्त्र का मूल स्रोत भी होता है।

२ .भावार्थ

बीज की प्राप्ति होने पर फिर मन्त्र में भावार्थ देखना चाहिए जो कि वस्तुतः मन्त्र की प्रकाश रूप में ही भावना है क्योंकि मन्त्र प्रकाश का ही अंश है—'प्रकाशस्यांशभूता मन्त्राः।'

३ .सम्प्रदायार्थ

तत्पश्चात् जिज्ञासु को सम्प्रदायार्थ जानना चाहिए अर्थात् वाच्य और वाचक में भेद दृष्टि का न होना और कार्य-कारण में भी भेद दृष्टि का न होना, यही सम्प्रदायार्थ है जो शिष्य को गुरु से क्रमपूर्वक मर्यादा से प्राप्त होता है—

जन्यजनकयोर्भेदाभावाद्वाच्यस्य वाचकेनापि।
ब्रह्मणि जगतो जगति च विद्याऽभेदस्तु सम्प्रदायार्थः।। — *वरिवस्या रहस्य १२-८१*

सम्यग्गुरुशिष्यापारम्पर्यक्रमायातमर्यादानुसारेण दीयत इति सम्प्रदायार्थः।

४ .निगर्भार्थ

इसके बाद निगर्भार्थ का अन्वेषण होना चाहिए जिसमें मन्त्र, गुरु और आराध्य देव में एकात्मक, निष्कल एकता की भावना करनी चाहिए—

परमशिवे निष्कलता तदभिन्नत्वं स्वदेशिकेन्द्रस्य।
तत्करुणात :स्वस्मिन्नपि तदभेदो निगर्भार्थः।। —*वरिवस्या रहस्य २-८२*

५ .कौलिकार्थ

तत्पश्चात् देवता और मन्त्र के चक्र में तथा अपने गुरु और अपने एकात्म भाव स्थापित करना चाहिए–

अथ पददेवताया विद्यायाश्चक्रराजस्य श्रीगुरोरात्मनश्चैक्यं कौलिकार्थ इत्युच्यते।।
— *वरिवस्या रहस्य*

यही कौलिकार्थ है।

६ .रहस्यार्थ

इसके बाद क्रम प्राप्त रहस्यार्थ का अन्वेषण किया जाता है। रहस्यार्थ में मन्त्र की भावना से कुण्डलिनी का उद्बोधन किया जाता है और जब तक मन्त्र भावना से कुण्डलिनी उद्बुद्ध होकर आज्ञाचक्र को भेद कर सहस्रार में जाकर विश्राम नहीं करती तब तक अधिकारी मन्त्र ज्ञान के क्षेत्र में अग्रसर नहीं होता—

ईदृश्याः कुण्डलिन्या मातुर्विद्यायाः स्वस्य चाभेद इति रहस्यरूपोऽप्रकाश्योऽर्थ इत्यर्थः।
— *वरिवस्या रहस्य २-१०७*

७ .महातत्त्वार्थ

इस प्रकार कुण्डलिनी के उद्‌बुद्ध होने पर और अधिकारी की मन्त्र के साथ अभिन्न भावना होने पर महातत्त्वार्थ का सन्दर्भ उपस्थित होता है, जिसमें अधिकारी को चिदानन्द ब्रह्म में अपनी आत्मा नियोजित कर अभेद प्राप्ति करनी होती है—

चिदानन्दे ब्रह्मणि परे नियोज्या स्वात्मा तदभेदसंप्राप्त्यै एष महातत्त्वार्थः।

— *वरिवस्या रहस्य २-१०९*

८ और ९ .नामार्थ एवं शब्दरूपार्थ

इसके बाद अधिकारी को नामार्थ और शब्दरूपार्थ का अनुभव करना चाहिए क्योंकि मन्त्र जिन अक्षरों के सम्मेलन से उद्भासित होता है वही अक्षर मन्त्र के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, यही नामार्थ है और वही अक्षर मन्त्र के रूप को भी प्रकट करते हैं जिसे शब्दरूपार्थ कहते हैं—

तत्तद् वर्णार्थेयं तत्तद्वर्णस्वरूपेयम्।
इति तु मन्त्रविद्यायाः नामार्थः शब्दरूपार्थः। — *वरिवस्या रहस्य २-११०*

१० .नामैकदेशार्थ

तत्पश्चात् नामैकदेशार्थ का अनुभव करना चाहिए। नामैकदेशार्थ से तात्पर्य यह है कि जब मन्त्र के किसी एक अंश का कथन हो तो सम्पूर्ण मन्त्र और मन्त्र का अर्थ उपस्थित हो जाए। नामकथन से ही सम्पूर्ण अर्थ का बोधन होना ही नामैकदेशार्थ है—

नामैकदेशमात्रे नामग्रहणस्य लोकसिद्धत्वात्।
नामोपस्थितिगम्यः प्रोक्तो नामैकदेशार्थः।। — *वरिवस्या रहस्य २-२१२*

इसी सन्दर्भ में गुरु-शिष्य के मध्य केवल बीज मन्त्रों का ही अर्थ के उद्‌बोधन के रूप में प्रयोग हेता है, क्योंकि बीज ही सम्पूर्ण मन्त्र के अर्थ का उद्भावन करता है।

११ .शाक्तार्थ

तत्पश्चात् शाक्तार्थ की अपेक्षा की जाती है जो कि दो प्रकार का है—अवयवार्थ और शक्तिसमूहार्थ। अवयवार्थ में देवता के अवयवों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन होता है और शक्तिसमूहार्थ में मन्त्र के प्रत्येक अक्षर में शक्ति का उद्‌बोधन किया जाता है—

अथ शाक्तार्थो द्विविधः अवयवार्थः शक्तिसमूहार्थश्चेति। तत्रावयवार्थो नाम देव्या अवयवानां वर्णनम्। ... अत्र प्रत्यक्षरमेकैकत्र शक्तिः। तेन शक्तानामक्षराणामर्थः शाक्तार्थः। स्वार्थे अण्। अथवा शाक्तानामुपासकानामर्थः

प्रयोजनम्, अथवा शक्तिसमूहः प्रतिपाद्यत इति त्रेभा निर्वचनम्। — *वरिवस्या रहस्य २-११८*

१२ .सामरस्यार्थ

इस स्थिति को प्राप्त कर सामरस्यार्थ का अवेक्षण करना चाहिए। इसके लिए मन्त्राक्षरों में उपस्थित देवता का युगल भाव से ध्यान करना अपेक्षित है, क्योंकि देवता अपनी शक्ति के साथ सामरस्य रूप में उपस्थित रहता है जैसे शिव शक्ति के बिना और शक्ति के बिना शिव की सम्भावना नहीं होती है—

शिवशक्तिसामरस्याद्विद्याया एष सामरस्यार्थः।

१३ .समस्तार्थ

इसके पश्चात् समस्तार्थ का बोध होना सम्भव है। सिद्धों द्वारा मन्त्र के अक्षरों का जो-जो अर्थ प्रकाशित किया जाता है वही समस्तार्थ है, जिसमें मन्त्र के अक्षरों के प्रयोग से और पदों के प्रयोग से सम्पूर्ण सकल अर्थ का द्योतन हुआ वही तन्त्र की वेद व्याख्या की पद्धति का सार है—

समस्तपदस्यार्थ इति वा, समस्ताः सकला अर्थाः पुरुषार्था यस्मिन्निति वा, समस्त सङ्क्षिप्तोऽर्थ इति वा निरुक्तिः। — *वरिवस्या रहस्य २-१३३*

१४ .गुणार्थ

इस प्रकार समस्तार्थ से प्रकट होने वाली ब्रह्म शक्ति सम्पूर्ण कलाओं से युक्त होती है, अतः उस ब्रह्म की कलाओं का या गुणों का कथन ही सगुणार्थ है—

सकलकलाभिः सहितं सकलं ब्रह्म तु तृतीयकूटार्थः।
इत्थं गुणगणकथनात् विद्याया एष सगुणार्थः। — *वरिवस्या रहस्य*

१५ .महावाक्यार्थ

अन्त में मन्त्र को महावाक्यार्थ के रूप में प्रकट करते हुए तन्त्रशास्त्र का कथन है कि मन्त्र का प्रतिपाद्य जीव और ब्रह्म का ऐक्य है, उसके लिए अभिधा, लक्षणा या व्यञ्जना का ही आश्रय क्यों न लेना पड़े—

एवमवान्तरवाक्यैर्जीवब्रह्मस्वरूपमभिधाय।
तदभेदो वर्णित इत्येष महापूर्ववाक्यार्थः। — *वरिवस्या रहस्य २-१४७*

इसी सन्दर्भ में तन्त्रशास्त्र और आगे कहता है—

शक्त्या लक्षणया वा येऽर्था दर्शिता दर्शिता मनोरस्य।
तेषु न कोऽपि विवादः प्रत्यक्षेणैव सिद्धत्वात्।। — *वरिवस्या रहस्य २-१४८*

तन्त्र में मन्त्र के अर्थ के इन स्तरों तक पहुँचने के लिए व्यक्ति को ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग, बीज, शक्ति, कीलक, न्यास, ध्यान, पूजा आदि बाह्य आचरणों का पालन अवश्यमेव करना चाहिए ताकि उसका शरीर मन्त्र के अर्थ को ग्रहण करने में सक्षम हो, दुर्बल शरीर में न तो मन्त्र का प्रादुर्भाव हो सकता है और न ही अर्थ का। इसीलिए सूक्ष्म शरीर, सात्त्विक चित्त और सद्गुरु—यह तन्त्र की मन्त्र के अर्थों का निष्पादन करने में पहली शर्त है। अत: वेद के भाष्यकारों, विशेषत: पाश्चात्य भाष्यकारों पर निर्भर करने की अपेक्षा तन्त्र योग की इस युक्ति के द्वारा वेदार्थ को ढूँढना अधिक सफलतापूर्ण होगा कि—

स्वाध्यायाद् योगमासीद् योगाद् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।।

— प्राध्यापक संस्कृत, एस.डी. कॉलेज,
अम्बाला छावनी, अम्बाला (हरियाणा)

शक्ति–मन्त्र रहस्य

डॉ .ताराशंकर शर्मा 'पाण्डेय '

सनातन धर्म में आस्था रखने वाली समाज की पुरानी पीढी ही क्या इस भौतिक युग की चकाचौंध में खोया आज का युवा वर्ग भी मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र के प्रति आकर्षित हो रहा है इसे उसकी आस्था कहें या फिर कुछ नया कर दिखाने की मन:स्थिति। विचारों के साथ-साथ उसका पहनावा भी बदल रहा है—गले में रुद्राक्ष की माला, शर्ट पर लिखे मन्त्र। यह सब हमारे धर्म की गहरी जड़ों का नवांकुर ही कहा जा सकता है।

हमारे ऋषियों की दीर्घकालिकी तपस्या, चिन्तन और मनन का ही फल है—मन्त्र, यन्त्र एवं तन्त्र। आध्यात्मिक चिन्तन के बाद जो दैवीय ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति हुई उसका सैद्धान्तिक स्वरूप है मन्त्र। शास्त्रों में मन्त्र हमें अभीष्ट कार्यों में सिद्धि प्राप्त करवाने के साथ-साथ सांसारिक बन्धनों से मुक्ति दिलाने के कारगार उपाय कहे गये हैं। इन मन्त्रों का भौतिक स्वरूप है मन्त्र तथा प्रायोगिक रूप तन्त्र।

एक बार ब्रह्मा, विष्णु और महेश इकट्ठे होकर जब क्षीर-सागर जा रहे थे तब उन्हें कान्ति में करोड़ों लक्ष्मियों से भी अधिक सुन्दरी श्री भुवनेश्वरी देवी के दर्शन हुए। देवी दर्शन से उत्सुक तीनों देव जब विमान से उतर कर समीप गये तब तीनों ही तत्काल प्रभाव से स्त्रीरूप में बदल गये। तीनों ही देवताओं ने भगवती पराम्बा माँ की स्तुति कर प्रसन्न किया। प्रसन्न देवी ने भगवान् शिव का 'नवार्ण' मन्त्र प्रदान कर ब्रह्मा को उसका उपदेश दिया। साथ ही ब्रह्मा को महासरस्वती, विष्णु को महालक्ष्मी और शिव को महाकाली गौरी देवी देते हुए ब्रह्मलोक, विष्णुलोक एवं कैलाश पर्वत पर जाकर अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करने का आदेश दिया। इस प्रकार आद्या शक्ति पराम्बा ने अपने आप को तीनों रूपों में प्रकट किया। यही परब्रह्म की स्वाभाविकी परा शक्ति है जो समस्त ब्रह्माण्ड को अभिव्यक्त करती है।

ईश्वर में शक्ति उसी प्रकार अभिन्न रूप में स्थित है जिस प्रकार चन्द्ररश्मि चन्द्रमा से अभिन्न है। शक्ति सहजरूप है और जगत् उसकी अभिव्यक्ति है। जन्म, जीवन और प्रलय इन तीनों कार्यो के द्वारा जनन-पालन-संहारकारिणी शक्ति की सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है। सच्चिदानन्द परब्रह्म की स्वाभाविक जो पराशक्ति है वह शक्ति तत्त्व है। ऐश्वर्य तथा पराक्रम एवं इन दोनों को देने वाली शक्ति नित्य के जीवन में अपदाओं का निवारण कर धर्मादि पुरुषार्थों को देती हुई जीवन को अलौकिक आनन्द से आप्लावित करती है—

ऐश्वर्यवचन: शश्च क्ति: पराक्रम एव च।
तत्स्वरूपा तयोर्दात्री सा शक्ति :परिकीर्तिता।। —*श्रीमद्देवीभागवतपुराण ९/२/१०*

भगवती शक्ति नित्या ब्रह्मलीला प्रकृति है। अग्नि दाहकता, चन्द्रमा में प्रभा और सूर्य में कान्ति की भाँति यह सदा आत्मा से युक्त है—

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव।। — *शक्तिदर्शन*

जैसे सोने के बिना सुनार कुण्डल तथा मिट्टी के बिना कुम्हार घट का निर्माण करने में असमर्थ है वैसे ही सर्वशक्तिस्वरूपा प्रकृति के बिना शक्तिमान जगत् का निर्माण नहीं कर सकता। शिव में इकार शक्ति का सूचक है। इस शक्ति से हीन होने पर शिव शवमात्र शेष रह स्पन्दन-रहित हो जाता है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्,
न चेदेवं देवो न खलु कुशल :स्पन्दितुमपि।। —*सौन्दर्यलहरी १*

इस शक्ति की उपासना ही शाक्त सम्प्रदाय की आधार पीठिका है। शक्ति उपासना में काली, तारा, त्रिपुरा (षोडशी), भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, मातङ्गी, कमला और बगलामुखी—इन दस महाविद्याओं का विशेष महत्त्व है। इनमें प्रथम दो 'महाविद्या' पाँच 'विद्या' और अन्तिम तीन 'सिद्धविद्या' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें षोडशी को आद्या शक्ति माना जाता है। ये भोग एवं मोक्ष को देने वाली मानी गयी है जबकि अन्य विद्याएँ भोग और मोक्ष में से केवल एक को ही देती है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।। —*मंगलस्तव*

शक्ति उपासकों के लिए 'नवार्ण' (नवाक्षर) मन्त्र प्रधान आलम्बन है। **'मननात् त्रायते इति मन्त्र'** इस प्रकार शब्द की व्युत्पत्ति ही मन्त्र की अत्यन्त गोपनीयता को प्रकट करती है फिर भी गोपनीयता भङ्ग कर उपासक के लिए मन्त्र का स्वरूप बतलाना आवश्यक है। नवार्ण मन्त्र का स्वरूप बताते हुए कहा गया है—

त्रैलोक्यडामरं मन्त्रं शृणु भूप! नवाक्षरम्।
येन विज्ञानमात्रेण परमैश्वर्यवान् भवेत्।।

मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—

ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे।

इस मन्त्र के जप करने एवं ज्ञान मात्र से ही उपासक को परम ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाती है। जप किसे कहते हैं, इस प्रसङ्ग में *योगदर्शन* का कथन है—

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

मन्त्र की शब्द-राशि के अर्थ की भावना करना ही उसका वास्तविक जप है अन्यथा वह उच्चारण मात्र है। इस प्रकार जप करने से उपासक को इष्टदेव का साक्षात्कार होता है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। —*योगदर्शन*

अत: अब यहाँ नवार्ण मन्त्र के 'नौ' बीजों का अर्थ स्पष्ट कर देना उचित ही है। क्रमश: इनका विवेचन प्रस्तुत है—

'ऐं' यह सरस्वती देवी का बीजमन्त्र हैं। इसमें दो अंश हैं—ऐ+बिन्दु। ऐ का अर्थ सरस्वती तथा बिन्दु का अर्थ दु:ख का नाश करने वाला। अर्थात् चित्स्वरूपा सरस्वती देवी हमारे दु:खों का नाश करे। इस बीज का स्वरूप चन्द्रमा के समान कान्ति वाला है।

'ह्रीं' यह भुवनेश्वरी रूप महालक्ष्मी का बीजमन्त्र है तथा इसका स्वरूप सूर्य के समान तेजस्वी है। इसमें चार अंश ह्, र्, ई और बिन्दु हैं। इस प्रकार महालक्ष्मी सत्स्वरूपा है।

'क्लीं' यह महाकाली व भगवान् कृष्ण का बीज है। इसमें भी चार अंश क्, ल्, ई और बिन्दु हैं, इनका अर्थ क्रमश: कृष्ण, सुन्दर, तुष्टि और सुखकर है अर्थात् सुन्दर कृष्ण हमें तुष्टि पुष्टि देवें। यहाँ आनन्दस्वरूपा महाकाली का स्वरूप कामबीजरूप में कहा गया है। इस बीज का रूप अग्नितुल्य है।

'चामुण्डायै'—चा=चित् अर्थात् तपे हुए स्वर्ण के समान कान्तिवाला, मु–सत् अर्थात् गहरा लाल वर्णरूप, ण्डा–(न्दा) आनन्द अर्थात् नील वर्णरूप, यै–द्वितीया विभक्ति के लिए आर्ष प्रयोग है। चामुण्डायै अर्थात् तपे हुए सोने के समान कान्ति वाले, गहरे लाल रंग वाले तथा नीलकमल के समान वर्ण वाले तत्त्व को।

'विच्चे'– विद्=विद्म:–जानते हैं या जानने का प्रयास करें और 'चे' अर्थात् चिन्तयाम:=चिन्तन करें।

इस प्रकार सम्पूर्ण मन्त्र का तात्पर्य है—दु:खों का नाश करने वाली, चन्द्रमा के समान कान्ति वाली चित्स्वरूपा स्वर्णिम-गौरवर्णा **महासरस्वती,** सत्यरूपा रक्तवर्णा **महालक्ष्मी** एवं तुष्टि पुष्टि देने वाली आनन्दस्वरूपा नीलकमल के समान श्यामवर्ण वाली **महाकाली** का हम चिन्तन करें। देवी भागवत में कहा गया है कि सभी वेद, दर्शन आदि शास्त्रों के निर्णय के अनुसार सभी भक्त इस पराशक्ति की निर्गुण अथवा सगुण रूप में उपासना करें। तीनों लोक में इस शक्ति से बढ़कर कुछ भी नहीं है, कहा भी है—

आराध्या परमा शक्ति: सर्वैरपि सुरासुरै:।
नात :परतरं किञ्चिदधिकं भुवनत्रये।।

सत्यं सत्यं पुन: सत्यं वेदशास्त्रार्थनिर्णय:।
पूजनीया पराशक्तिर्निर्गुणा सगुणाऽथवा।। —*श्रीमद्देवीभागवतपुराण, १/९/८६,८७*

रुद्रयामल के गौरीतन्त्र में मन्त्रस्वरूपिणी शक्ति के कार्यों की विवेचना और भी अधिक स्पष्ट रूप से करते हुए जय सिद्धि के लिए प्रार्थना की गई है—

जाग्रतं हि महादेवि! जपं सिद्धं कुरुष्व मे।
ऐंकारी सृष्टिरूपायै ह्रीङ्कारी प्रतिपालिका।।३।।
क्लींकारी कामरूपिण्यै बीजरूपे! नमोऽस्तुते।

चामुण्डा चण्डघाती च यैकारी वरदायिनी।।४।।
विच्चे चाभयदा नित्यं नमस्ते मन्त्ररूपिणी।।५।। —*सिद्धकुञ्जिकास्तोत्र*

यहाँ एक ओर चन्द्राभा, चित्स्वरूपा, गौरवर्णा, ऐंकारी महासरस्वती सृष्टिकारिणी के रूप में स्वीकार की गई है तो दूसरी ओर सत्यस्वरूपा, गहनरक्तवर्णा, ह्रींकारी महालक्ष्मी संसार की पालनकर्त्री मानी गई है, जबकि अग्नितुल्यवर्णा क्लींकारी महाकाली कामरूपिणी है। इन तीन बीज रूपों वाली देवी मन्त्रस्वरूपा चण्ड दैत्य का वध करने वाली वरदायिनी, अभय दान देने वाली देवी को प्रणाम स्वीकार हो।

भगवती देवी के बीज मन्त्र को गोपनीय पारिभाषिक शब्दावली के रूप में *देव्यथर्वशीर्ष* में प्रकट किया गया है—

वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम्।
अर्धेन्दुलसितं देव्या बीजं सर्वार्थसाधकम्।।१७।।

वियद् से 'ह'कार में 'इ'कार जोड़ने तथा वीतिहोत्र अर्थात् रेफ से समन्वित चन्द्रबिन्दु से युक्त ह्रीं समस्त प्रकार के अर्थों की सिद्धि प्रदान करता है।

मुण्डमाला तन्त्र ग्रन्थ में भगवती के 'दुर्गा' नामान्तर्गत वर्णों का विवेचन करते हुए दकार दैत्यों के नाश का, उकार को विघ्नों के नाश का, रेफ रोग नाशक, गकार पापनाशक तथा आकार भय और शत्रु का नाशक बताया गया है—

दैत्यनाशार्थवचनो दकारः परिकीर्तितः।
उकारो विघ्ननाशस्य वाचको वेदसम्मतः।।
रेफो रोगघ्नवचनो गश्च पापघ्नवाचकः।
भयशत्रुघ्नवचनश्चाकारः परिकीर्तितः।।
स्मृत्युक्तिश्रवणाद् यस्या एते नश्यन्ति निश्चयम्। —*मुण्डमालातन्त्र*

भगवती माँ दुर्गा के दिव्य, भव्य एवं सूक्ष्म रूप की उपासना से ही कल्याण सम्भव है। तन्त्रशास्त्रों में बीज मन्त्रों का विस्तारपूर्वक विवेचन होने से ही तन्त्र कहा जाता है, इस विस्तार परम्परा में मन्त्रों के मननपूर्वक यन्त्रों के माध्यम से नियमन करना ही श्रेयस्कर है। अतः साधक को सिद्ध गुरु से ही दीक्षा प्राप्त कर उपासना करना मङ्गलमय है।

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, साहित्य विभाग
ज.रा.राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय,
ग्राम-मदाऊ, पोस्ट-भांकरोटा, जयपुर-२६
म.नं. २३८१, पाण्डेय भवन,
खजाने वालों का रास्ता, जयपुर-३०२००१

सर्वमङ्गला–श्रीविद्या

डॉ. पुष्पा त्रिपाठी

सम्पूर्णजगत् की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयकारणभूता शक्ति, परम–करुणामयी, भक्तवत्सला पराम्बा **भगवती जगज्जननी** ललितात्रिपुरसुन्दरी के जीवों के आधि–व्याधि, शोक–सन्ताप, दीनता–हीनता, दरिद्रता **आदि दूर करने के** लिए प्रार्थना करने पर समस्त विद्याओं के अधिपति भगवान् शङ्कर ने षोडशी 'श्रीविद्या–**साधना' प्रणाली को** प्रकट किया। आगमशास्त्रों में श्रीयन्त्र की विलक्षण महिमा वर्णित है। श्रीचक्र भगवती **ललितमहात्रिपुरसुन्दरी** का साक्षात् विग्रह एवं पराशक्ति का अभिव्यक्ति स्थान है। श्रीयन्त्र की साधना में ९८ **शक्तियों का अर्चन होता है**। ये शक्तियाँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नियन्त्रित करती है अत: श्रीयन्त्र और विश्व का **तादात्म्य है।**

आगमशास्त्र का मत है कि ईश्वर में स्वतन्त्रतारूपिणी शक्ति सर्वदा/नित्य उपस्थित रहती है। वही समस्त **निर्मिति का सृष्टि का आधार** बनती है—

चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। — *प्रत्यभिज्ञाहृदय, १*

वेदान्तशास्त्र के मत में माया को समस्त प्रपञ्चाधिष्ठात्री को ब्रह्म की अविछिन्न नित्य सहचरी के रूप में **स्वीकार किया गया है। वही अन्तःकरण** आदि के निर्मिति की उत्तादायिनी और सिद्धिकारिणी शक्ति स्वीकारी गई है। उसी माया शक्ति को नासदीयसूक्त में 'स्वधा' के रूप में सम्बोधित किया गया है—

अनीदवातं स्वधया तदेकम्।

वेदान्त कहता है कि वह शक्ति ब्रह्म से भिन्न नहीं है। उसके रूप भी उसके व्यतिरिक्त नहीं है। दोनों ही **नित्य हैं और दोनों का सम्बन्ध** भिन्न और अभिन्न दोनों स्थितियों से अलग है अत: अनिर्वचनीय है। **गोस्वामी तुलसीदास** जी ने इन्हीं तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए अत्यन्त काव्यमय हृदयावर्जक ढंग से ब्रह्म और **उसकी मायाशक्ति के** भेदाभेदभिन्न अनिर्वाच्य रूप का प्रतिपादन करते हुए जल के दृष्टान्त से बड़े सुन्दर ढङ्ग **से समुपस्थित किया है**—जैसे जल और उसकी वीचि केवल कहने मात्र को द्विधा प्रतीत होती है पर वास्तव **में दोनों की सत्ता** परस्पर सम्बद्ध है। दोनों एक–दूसरे से कहने भर को भिन्न है वस्तुत: अभेद है। यह स्थिति सर्वथा अनिर्वचनीय एवं स्वानुभवैकसंवेद्य है।

गिरा अरथ जलविचि सम ,कहियत भिन्न न भिन्न।
वन्दौ सीतारामपद जिनहिं परम प्रिय खिन्न।।

उपनिषदों में कहा गया है कि सृष्टि के पूर्व जगत् की जो अनिर्वचनीय अव्याकृत अवस्था है उसी को अव्यक्त कहते हैं। यह अव्यक्त ही परमेश्वर की 'माया' नामक शक्ति है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।। — *श्वेताश्वतरोपनिषद् – ४.१०*

इस प्रकारण में जिस 'माया' का वर्णन हुआ है वह भगवान् शिव की शक्तिरूपा प्रकृति है और उस 'माया' नाम से कही जाने वाली शक्तिरूपा प्रकृति का अधिपति परब्रह्म परमेश्वर है। उस परमेश्वर की शक्तिरूपा प्रकृति के ही अङ्गभूत कारण-कार्यसमुदाय से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है।

यह मायाशक्ति न तो ब्रह्म से एक है और न ही अलग या भिन्न। यदि उसे ब्रह्म से अभिन्न एक माना जाय—दोनों एक ही रहेंगे तो क्रिया और विचार कैसे सम्भव होंगे और यदि दोनों को अलग माना जाय तो दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न दिखाई पड़नी चाहिए। पर यहाँ शक्ति शक्तिमान् से अलग दिखाई नहीं पड़ती। शक्तिमान् की सत्ता शक्ति पर और शक्ति की अभिव्यक्ति शक्तिमान् पर परस्पर निर्भर करती है। श्रीमदाद्यशङ्कराचार्य पूज्यपाद ने *सौन्दर्यलहरी* के प्रथम पद्य में शक्ति की महिमा का गुणगान करते हुए कहा है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्,
न चेदेवं देवः न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्च्यादिभिरपि,
प्रणन्तु स्तोतुं वा कथमकृतपुण्य :प्रभवति।।१।।

शक्ति से संयुक्त होकर ही शिव संसार के नियमन की अपनी कृपापूर्ण भूमिका का निर्वहन कर पाने में समर्थ हो पाते हैं। यदि उन्हें मन्त्रात्मिका अपनी सहचरी नित्य शक्ति का साथ न मिले तो उनमें तनिक स्पन्दन करने की भी स्फुरणा का अभाव हो जायेगा। अतः हे देवि! हरि, हर, और ब्रह्मादि त्रिदेवों की भी अपेक्षा परमाराध्या तुम्हारी महनीय स्तुति कर पाने का सौभाग्यलाभ भी उन्हीं पुण्यात्माओं को हो पाता है जिनके पूर्वजन्मों की शृङ्खला निरन्तर पुण्याचरणों से भरी हुई हैं।

कल्याणवृष्टिस्तोत्र के तीसरे श्लोक में भगवती से प्रार्थना करते हुए आचार्यशङ्कर कहते हैं—भगवती के उस भक्त का कभी विनाश नहीं होता जो भक्त भगवती के चरणों में एक बार प्रणाम कर लेता है। हे! जननि प्रभुत्वभाव के अभिमानी ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र, कुबेर आदि देव प्रतियुग में अभिभूत (लय) हो जाते हैं परन्तु आपके चरणों में भक्त यदि एक बार भी प्रणाम करता है तो उसका कभी भी विनाश नहीं होता, सदा ही आपकी सन्निधि में रहता है।

ईशित्वभागकलुषाः कति नाम सन्ति ब्रह्मादयः प्रतियुगं प्रलयाभिभूताः।
एकः स एक जननि स्थिरसिद्धिरास्ते यः पादयोस्तु सुकृती प्रणतिं करोति।।
— *कल्याणवृष्टिस्तोत्र – ३*

वामकेश्वरतन्त्र में कहा गया है कि शक्ति के बिना शिव के नाम, धाम आदि की कल्पना नहीं की जा सकती।

शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते। —*विज्ञानभैरव*

जिस प्रकार दीपक की लौ से सूर्य की किरणों से दिग्विभाग का ज्ञान होता है उसी प्रकार शक्ति की सहायता से इस जागतिक प्रपञ्च का ज्ञान होता है। जैसे दीपक को देखने के लिए दूसरे दीपक की, सूर्य को देखने के लिए दूसरे सूर्य की आवश्यकता नहीं होती ये अपनी ही लौ और अपनी ही किरणों से भासित होते हैं वैसे ही शक्ति के द्वारा शिव का ज्ञान हो जाता है—

यथाऽऽलोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिव :प्रिये।। —*विज्ञान भैरव-१५*

स्वप्रकाशशिव-शक्ति के द्वारा उपाधिरूप से अभिव्यक्त होता है। शक्ति पहले स्वयं अभिव्यक्त होती है और उससे शिव की अभिव्यक्ति होती है। शक्ति के द्वारा ही शिव अभिव्यक्ति का आलिङ्गन करता है और शक्ति से ही उसका स्फुरण होता है। जब व्यक्ति को शिव और शक्ति की इस अभिन्नता का परिज्ञान हो जाता है और अभेदबोध जागृत हो जाता है तो मात्र परावस्था ही अवशिष्ट रहती है, शिव और शक्ति उसी में विलीन हो जाते हैं। शक्ति आनन्द से उच्छलित हो अपने को अपने ही द्वारा सृष्टि के रूप में प्रकट करती है। शक्ति तत्त्व में शिव के आनन्द का प्राधान्य है।

आनन्दोच्छलिता शक्ति :सृजत्यात्मानमात्मना।

वस्तुत: शिवतत्त्व में चैतन्य की प्रधानता है तो शक्तितत्त्व में आनन्द की प्रधानता है। इन्हीं परब्रह्मपरमेश्वर शिव से शक्तिस्वरूपा भगवती पार्वती ने मनुष्यों के कल्याण के लिए प्रश्न पूछा कि वह कौन-सी साधना है जिसमें भौतिक एवं आध्यात्मिक, भोग एवं मोक्ष दोनों प्राप्त हो सके। तब महादेव ने ६४ तन्त्र प्रकट किये जिसमें 'दश महाविद्या' आदि की साधनाएँ प्रकट की। ६५ तन्त्र 'श्रीविद्या' को प्रकट किया जिसमें सांसारिक सुखों की प्राप्ति तथा मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है—

श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।

ये दश महाविद्याएँ हैं—

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी। वगला छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा।
मातङ्गी त्रिपुरा चैव विद्या च कमलात्मिका। एता दश महाविद्या :सिद्धविद्या :प्रकीर्तिता:।।

काली (महाकाली), तारा, महाविद्याषोडशी, भुवनेश्वरी, वगलामुखी, छिन्नमस्ता, धूमावती, मातङ्गी, त्रिपुरा तथा कमलात्मिका (कमला)—ये दशमहाविद्याएँ सिद्ध विद्याएँ कही गयी हैं। भगवती सती भगवान् शिव से कहती हैं कि हे परमेश्वर! ये देवियाँ नित्य भक्तिपूर्वक उपासना करने वाले साधकपुरुषों को चारों प्रकार के पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) तथा समस्त वाञ्छित फल प्रदान करती हैं।

भक्त्या सम्भजतां नित्यं चतुर्वर्गफलप्रदाः। सर्वाभीष्टप्रदायिन्या साधकानां महेश्वर।।

१ .महाकाली

दशमहाविद्याओं में महाकाली का स्थान प्रथम है। महाभागत के अनुसार महाकाली ही मुख्य हैं और उन्हीं के उग्र और सौम्य रूपों में अनेक रूप धारण करने वाली दस महाविद्याएँ हैं। ये महाविद्याएँ अनन्त सिद्धियाँ प्रदान करने में समर्थ हैं। महाकाली ही समस्त विद्याओं की आदि हैं। उनकी विद्यामय विभूतियाँ ही महाविद्याएँ हैं। *वृहन्नीलतन्त्र* में कहा गया है कि रक्त और कृष्ण भेद से काली ही दो रूपों में अधिष्ठित हैं। कृष्णा का नाम 'दक्षिणा' और रक्तवर्णा का नाम 'सुन्दरी' है। महाकाल की प्रियतमा काली ही दक्षिण और वाम दो रूपों में दशमहाविद्याओं के नाम से विख्यात हुईं?

२ .तारा

महाविद्याओं में 'तारा' द्वितीय स्थान पर परिगणित हैं। काली को ही नीलरूपा होने के कारण तारा भी कहते हैं। तारा नाम का रहस्य यह भी है कि ये सर्वदा तोक्ष देने वाली तारने वाली हैं इसलिए इन्हें तारा कहा गया है। ये त्वरित ही वाक् शक्ति प्रदान करने में समर्थ हैं इसलिए इन्हें 'नीलसरस्वती' भी कहते हैं। भयंकर विपत्तियों से भक्तों की रक्षा करती हैं इसलिए ये 'उग्रतारा' हैं। *वृहन्नीलतन्त्र* में भगवती तारा के स्वरूप की विशेष चर्चा है। हयग्रीव का वध करने के लिए इन्हें नीलविग्रह प्राप्त हुआ था। ये शवरूप शिव पर प्रत्यालीढ़ मुद्रा में आरूढ़ हैं। भगवती तारा नीलवर्णा, नीलकमलों के समान तीन नेत्रों वाली हाथों में कैंची, कपाल, कमल और खड्ग धारण करने वाली हैं। भगवती तारा की उपासना मुख्य रूप से तन्त्रोक्त विधि से होती है।

३ .छिन्नमस्ता

महाविद्याओं में छिन्नमस्ता का स्थान तीसरा है। भगवती छिन्नमस्ता का स्वरूप अत्यन्त गोपनीय है। इसे कोई अधिकारी साधक ही जान सकता है। विश्व की वृद्धि और ह्रास तो सदैव होती रहती है। जब ह्रास की मात्रा की कम और विकास की मात्रा अधिक होती है तब भुवनेश्वरी का प्राकट्य होता है। इसके विपरीत जब निर्गम अधिक और आगम कम होता है तब छिन्नमस्ता का प्राधान्य होता है। छिन्नमस्ता का आध्यात्मिक स्वरूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। छिन्न यज्ञशीर्ष की प्रतीक ये देवी श्वेतकमल पर आरूढ हैं। दिशाएँ ही इनके वस्त्र हैं। नाभि में योनिचक्र है। कृष्ण (तम) और रक्त (रज) गुणों की देवियाँ इनकी सहचरियाँ हैं। ये अपना शीश काटकर भी जीवित हैं। यह अपने आप में पूर्ण अन्तर्मुखी साधना का संकेत है।

४ .षोडशी

दशमहाविद्याओं में षोडशी का चौथा स्थान है। भगवती षोडशी शक्ति की सबसे मनोहर विग्रह वाली सिद्ध देवी हैं। सोलह अक्षरों के मन्त्र वाली इन देवी की अङ्गकान्ति उदीयमान सूर्यमण्डल की आभा की भाँति है। इनकी चार भुजाएँ एंवं तीन नेत्र हैं। ये शान्तमुद्रा में लेटे हुए सदाशिव पर स्थित कमल के आसन पर आसीन हैं। इनके चारों हाथों में पाश, अङ्कुश, धनुष और बाण सुशोभित है। *श्रीविद्यार्णवतन्त्र* के

ग्रन्थकार विद्यारण्य यति महाराज जी ने अपने ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में ही श्रीविद्यामहामन्त्र पञ्चदशाक्षरी का संकेत किया है।

उद्यत्सूर्यसहस्रभास्वरतनुः सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परा
विद्युत्पुञ्जनिभेन्दुकोटिसदृशी धामत्रयाध्यासिनी। —*श्रीविद्यार्णव तन्त्रम्-१*

भगवती का श्रीविग्रह सौम्य और हृदय दया से आपूरित है। इनकी महिमा अवर्णनीय है। हिरण्यगर्भ ही शिव हैं और उन्हीं की शक्ति षोडशी है। तन्त्रशास्त्रों में षोडशी देवी को पञ्चवक्त्र अर्थात् पांचमुखों वाली बताया गया है। चारों दिशाओं में चार और एक ऊपर की ओर होने से इन्हें पञ्चवक्त्रा कहा जाता है। देवी के पाँचों मुख तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव, अघोर और ईशान शिव के पाँचों रूपों के प्रतीक हैं। इनमें षोडश कलाएँ पूर्ण रूप से विकसित हैं, इसीलिए ये षोडशी कहलाती हैं। इन्हीं षोडशी को श्रीविद्या भी कहा जाता है। इन्हें महात्रिपुरसुन्दरी, राज-राजेश्वरी, ललिता, बालापञ्चदशी आदि अनेक नाम हैं। इन्हें आदि शक्ति माना जाता है। ये अपने उपासकों को भुक्ति और मुक्ति दोनों प्रदान करती हैं।

भगवान् शङ्कराचार्य ने भी श्रीविद्या के रूप में इन्हीं षोडशी की उपासना की थी। आज भी शाङ्करपीठों में भगवती षोडशी राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी की श्रीयन्त्र के रूप में आराधना होती आ रही है। भगवान् शङ्कराचार्य ने सौन्दर्यलहरी में इन्हीं षोडशी श्रीविद्या की उपासना की है। *भैरवयामल* तथा *शक्तिलहरी* में इनकी उपासना का विस्तृत परिचय मिलता है।

५ .भुवनेश्वरी

देवी भुवनेश्वरी दशमहाविद्याओं में पाँचवें स्थान परगणित हैं। *देवीपुराण* के अनुसार मूलप्रकृति का दूसरा नाम ही भुवनेश्वरी है। आदिशक्ति भगवती भुवनेश्वरी भगवान् शिव के समस्त लीलाविलास की सहचरी हैं। जगदम्बा भुवनेश्वरी का स्वरूप सौम्य और अङ्गकान्ति अरुण है। अङ्कुश और आयुध इनके मुख्य आयुध हैं। अङ्कुश नियन्त्रण का प्रतीक है तथा पाश राग अथवा आसक्ति का प्रतीक है। *महानिर्वाण* तन्त्र के अनुसार सम्पूर्ण महाविद्याएँ भगवती भुवनेश्वरी की सेवा में सदैव संलग्न रहती हैं। भगवान् शिव का वाम भाग ही भुवनेश्वरी कहलाता है। भुवनेश्वरी के संग से ही भुवनेश्वरी सदा शिव को सर्वेश होने की योग्यता प्राप्त होती है।

६ .त्रिपुरभैरवी

विश्व के अधिष्ठान कालभैरव की शक्ति ही त्रिपुरभैरवी हैं। ये ललितामहात्रिपुरसुन्दरी की रथवाहिनी हैं। *मत्स्यपुराण* में इनका त्रिपुर भैरवी, कोशल-भैरवी, रुद्र भैरवी, चैतन्यभैरवी, नित्याभैरवी आदि रूपों का वर्णन प्राप्त होता है। *दुर्गासप्तशती* के तीसरे अध्याय महिषासुर-वध के प्रसङ्ग में इनका वर्णन हुआ है। इनका अरुणवर्ण विमर्श का प्रतीक है। इनके गले में सुशोभित मुण्डमाला ही वर्णमाला है। देवी के रक्तलिप्त पयोधर रजोगुण सम्पन्न सृष्टिप्रक्रिया के प्रतीक हैं। अक्षजपमाला वर्णसामाम्नाय की प्रतीक है। पुस्तक

ब्रह्मविद्या है, त्रिनेत्र वेदत्रयी हैं तथा स्मितहास करुणा है। आगमशास्त्रों के अनुसार त्रिपुराभैरवी एकाक्षररूप (प्रणव) है।

७.धूमावती

स्वतन्त्रतन्त्र के अनुसार सती ने जब दक्षयज्ञ में योगाग्नि के द्वारा अपने आप को भस्म कर दिया तब उस समय जो धुआँ उत्पन्न हुआ उससे धूमावती विग्रह का प्राकट्य हुआ था। इनके विषय में कथा आती है कि कैलाश पर्वत पर भगवती पार्वती शिव के साथ बैठी हुई थीं। उन्होंने महादेव से अपनी क्षुधा निवारण करने का निवेदन किया। कई बार निवेदन करने पर जब महादेव ने ध्यान नहीं दिया तो उन्होंने महादेव को ही निगल लिया। उनके शरीर से धूमराशि निकली जिसके कारण इन्हें धूमावती या धूम्रा कहा जाता है। शिव को निगलने का तात्पर्य है उनके स्वामित्व का निषेध।

इनके ध्यान में इन्हें विवर्ण, चञ्चल, काले रंग वाली, मैले वस्त्र धारण करने वाली, खुले केशों वाली, विधवा, काकध्वज पर आरूढ, हाथ में सूप धारण किये हुए, भूख प्यास से व्याकुल निर्मम नेत्रों वाली बताया गया है। तन्त्र ग्रन्थों के अनुसार उग्रतारा ही धूमावती हैं। *दुर्गासप्तशती* में वाभ्रवी और तामसी नाम से इन्हीं की चर्चा की गयी है। ये प्रसन्न होकर रोग और शोक को नष्ट कर देती हैं।

८ .वगलामुखी

वगलामुखी का महाविद्याओं में आठवाँ स्थान है। व्यष्टिरूप में शत्रुओं को नष्ट करने वाली और समष्टिरूप में परमात्मा की संहारशक्ति ही वगला हैं। इनके ध्यान में बताया गया है कि ये सुधा समुद्र के मध्य में स्थित मणिमय मण्डप में रत्नमय सिंहासन पर विराजमान हैं। ये पीतवस्त्र, पीत आभूषण, पीले पुष्पों की माला धारण करती हैं। इनके एक हाथ में शत्रु की जिह्वा तथा दूसरे हाथ में मुद्गर है। इनकी उपासना भोग एवं मोक्ष के लिए की जाती है।

९ .मातङ्गी

मतङ्ग शिव का नाम है, उनकी शक्ति मातङ्गी है। इनके ध्यान में बताया गया है कि ये श्यामवर्णा हैं और चन्द्रमा मस्तक पर धारण किये हुए हैं। भगवती मातङ्गी त्रिनेत्रा, रक्तमय सिंहासन पर आरूढ़, नीलकमल के समान कान्तिवाली तथा राक्षस समूहरूप अरण्य को भस्म करने में दावानल के समान हैं। इन्होंने चारों भुजाओं में पाश, अङ्कुश, खेटक और खड्ग धारण किया है। ये असुरों को मोहित करने वाली तथा भक्तों को अभीष्ट फल देने वाली हैं। जीवन को सुखमय बनाने, पुरुषार्थ सिद्धि और वाग्विलास में पारङ्गत होने के लिए मातङ्गी की साधना श्रेयस्कर है। *ब्रह्मयामल* में इन्हें मतङ्गमुनि की कन्या बताया गया है। ये पूर्णतया वाग्देवता की ही मूर्ति हैं। इनका श्यामवर्ण परावाक् बिन्दु है। उनका त्रिनयन सूर्य, सोम और अगिन हैं। इनकी चार भुजाएँ चार वेद हैं, पाश अविद्या है, अङ्कुश विद्या है, कर्मराशि दण्ड है। शब्दस्पर्शादिगुण कृपाण हैं अर्थात् पञ्चभूतात्मक सृष्टि के प्रतीक हैं। तन्त्रग्रन्थों में इनकी उपासना का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

१० .कमला

भगवती कमला वैष्णवी शक्ति हैं तथा भगवान् विष्णु की लीलासहचरी हैं। अत: उनकी उपासना जगदाधारीशक्ति की उपासना है। ये एक रूप में समस्त भौतिक या प्राकृतिक सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी हैं और दूसरे रूप में सच्चिदानन्दमयी लक्ष्मी हैं जो भगवान् विष्णु से अभिन्न हैं। देवता, मानव तथा दानव सभी इनकी कृपा के बिना पङ्गु है। आगम और निगम दोनों में इनकी उपासना समानरूप से वर्णित है।

इनके ध्यान में बताया गया है कि इनकी कान्ति सुवर्ण के समान है। हिमालय के समान श्वेतवर्ण चार हाथी अपने शूण्ड में चार सुवर्ण कलश लेकर इन्हें स्नान करा रहे हैं। ये अपनी दो भुजाओं में वर और अभय मुद्रा और दो भुजाओं में दो कमल पुष्प धारण की हुई हैं। इनके सिर पर सुन्दर किरीट तथा तन पर रेशमी परिधान सुशोभित हैं। ये कमल के सुन्दर आसन पर आसीन है।

भगवती कमला की उपासना स्थिर लक्ष्मी की प्राप्ति तथा पुत्रपौत्रादि के सौख्य के लिए की जाती है। भगवान् आदिशङ्कराचार्य द्वारा विरचित *कनकधारास्तोत्र* और *श्रीसूक्त* का पाठ, कमलगट्टों की माला पर श्रीमन्त्र का जप, बिल्वपत्र तथा उसके हवन से भगवती कमला की विशेष कृपा प्राप्त होती है। इस प्रकार काली से लेकर कमला तक सृष्टि और व्यष्टि, गति, स्थिति, विस्तार, भरण-पोषण, नियन्त्रण, जन्म-मरण, उन्नति-अवनति बन्धन तथा मोक्ष की अवस्था की प्रतीक हैं। अनेक होते हुए भी यह परमात्मा की एक ही शक्ति हैं।

भगवती त्रिगुणात्मिका भी है और त्रिगुणातीता भी है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्य :परमव्ययम्। —*गीता ७.१३*

अर्थात् इन तीन गुणमय भावों से यह सम्पूर्ण संसार मोहित है और इसी के दुर्निवार माया यवनिका से आच्छादित मेरे स्वरूप का ज्ञान मेरे जीव को नहीं हो पाता। अन्यत्र भी लिखा है—ये माया दैवी माया कही जाती है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में इसके प्रति संकेत करते हुए योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं लिखा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। — *श्रीमद्भगवद्गीता ७.१४*

अत: ये मेरी दैवी माया त्रिगुणात्मिका है। इसका प्रभाव अनन्त है और ये दुर्लङ्घ्य है। जो साधकजन मेरे प्रति पूर्णशरणागति ग्रहण कर अपने अहम् भाव का त्याग कर केवल मुझपर ही निर्भर हो जाते हैं वे ही इसको लाँघ पाते हैं।

वेदान्त सिद्धान्त भी जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य स्वरूपानुसन्धान प्रतिपादित करता है जिसके बिना मनुष्य जीवन सफल नहीं हो पाता। प्रात: स्मरणीय, परमवन्दनीय, पुण्यश्लोक, सिद्धसाधक, सन्तस्वरूप अपने

पूज्यगुरुजी महाराज के श्रीचरणों में बैठे हुए अनेकशः मैंने उनको कहते हुए सुना है कि *श्रीमद्भगवद्गीता* की राजविद्या राजगुह्ययोग नाम से प्रसिद्ध नवम अध्याय में जिस ज्ञान की चर्चा है वह और कुछ नहीं श्रीविद्या ही है।

मैं तो अकिञ्चन हूँ। ज्ञान की कोई पूँजी तो मेरे पास है नहीं कि मैं भगवती की महिमा और उसके स्वरूप के बारे में साधिकार कुछ कह सकूँ। महापुरुषों के सान्निध्य में जो थोड़ी-बहुत बातें मैंने सुनी उसी के आधार पर मैंने इस विचार का ताना-बाना बुना है। गुरु एवं शास्त्रवचनों में पूर्ण विश्वास एवं भगवती के प्रति समर्पित श्रद्धाभाव से निर्भराभक्ति किये जाने पर ही कुछ उसके स्वरूप का ज्ञान सम्भव है। उसमें भी उसकी परमकृपा अपेक्षित है। *रामचरितमानस* में भी गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—

सोई जानइ जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई॥

सहायक आचार्य
आर्यमहिला पी.जी. कॉलेज,
वाराणसी।

वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास में पातञ्जल योगदर्शन की वैज्ञानिक भूमिका

डॉ. राजकुमारी त्रिखा

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द—ये तीन प्रमाण ज्ञानप्राप्ति के मुख्य साधन माने गये हैं। ऋषि-मुनियों, चिन्तनशील मनीषियों तथा अनुभवी पुरुषों के उपदेश तथा परामर्श शब्द प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं। प्राचीन साहित्य में उपलब्ध वेद, उपनिषद्, विविध शास्त्रों के प्रतिनिधि ग्रन्थ भी शब्द प्रमाण के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। हमारे साहित्य में विविधशास्त्रग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जैसे— आयुर्वेदशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, छन्दशास्त्र, विमानशास्त्र, गन्धर्वशास्त्र, रसायनशास्त्र, योगदर्शन इत्यादि। आज इन शास्त्रों की प्रामाणिकता तथा प्रासङ्गिकता व इनके महत्त्व को प्रत्येक व्यक्ति जानना चाहता है। इस दृष्टि से आधुनिक तकनीकी युग में इन शास्त्रों की प्रासिङ्गकता खोज कर इनका महत्त्व सिद्ध करने की अत्यन्त आवश्यकता है। प्रस्तुत निबन्ध में मोक्षशास्त्र वर्ग में परिगणित तथा पतञ्जलिकृत '*योगशास्त्र*' के महत्त्व को रेखांकित करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

महर्षि पतञ्जलि ने *योगसूत्र* नामक ग्रन्थ में योगसिद्धान्तों तथा विभिन्न प्रक्रियाओं के विवरण के साथ-साथ अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धियों का भी वर्णन किया है। ये विवरण वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के साथ व्यक्ति तथा समाज के स्वस्थ विकास, लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति, कल्याण तथा लक्ष्य प्राप्ति के उपयोगी सुझाव देने के कारण आधुनिक युग में भी प्रासङ्गिक है। प्रस्तुत निबन्ध में कतिपय योग सिद्धान्तों के वैज्ञानिक महत्त्व, व्यक्तिगत जीवन में उपयोगिता तथा सामाजिक जीवन में उनके योगदान पर प्रकाश डालेंगे।

१ .वैज्ञानिक महत्व

पतञ्जलि ने अष्टाङ्ग योग का वर्णन करते हुए यमनियमादि योगाङ्गों की साधना द्वारा प्राप्त सिद्धियों के रूप में तथा धारणाध्यान-समाधि से प्राप्त सिद्धियों के फलस्वरूप दूरदर्शन, दूरश्रवण, आकाशगमन, अन्तर्ध्यान होना, पराये मन के विचारों का ज्ञान, अनेक शरीरनिर्माण जैसी अनेक सिद्धियों का वर्णन किया है। आज के तथाकथित आधुनिक तथा वैज्ञानिक विचारधारा के व्यक्ति इसे कपोल कल्पना समझते हैं। परन्तु विज्ञान द्वारा क्लोनिंग विधि से हूबहू उसी आकृति के पशु (भेड़) बनाना सम्भव हुआ है। इसी प्रकार दूसरे व्यक्ति के मन के विचारों को जान लेने की तकनीक खोजने में वैज्ञानिक लगे हुए हैं। '*महाभारत में विज्ञान,*

दर्शन और समाज' शीर्षक से प्रकाशित इस लेखिका की पुस्तक की भूमिका में (पृष्ठ XX पर) ऐसे ही एक वैज्ञानिक अनुसन्धान का उल्लेख मिलता है। तदनुसार जर्मनी के मैक्स प्लैंक इन्स्टीट्यूट ऑफ ह्यूमन कॉगनिटिव एण्ड ब्रेन साइन्स के वैज्ञानिक जॉन-डाइलेन ने यूनिवर्सिटी कॉलेज, लन्दन तथा आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के सहयोगियों के साथ मिलकर मनुष्य के मस्तिष्क में मची वैचारिक खलबली को पकड़ने का जुगाड़ कर लिया है। उन्होंने कहा, दिमाग की गतिविधियों को पकड़ने वाले स्नैकर की मदद से हम सोच के समुद्र से ऐसी जानकारी (विचार पढ़ने की) खोज निकाल सकते हैं, जिसे और किसी भी तरीके से नहीं पकड़ा जा सकता। अभी यह वैज्ञानिक इस अनुसन्धान में लगा हुआ है। जिस दिन इसे दूसरों के विचारों को पढ़ने में सफलता प्राप्त हो गई, तब योगसूत्र में वर्णित परचित्तज्ञान की क्रिया भी वैज्ञानिक मानी जाने लगेगी। इसी पुस्तक में लेखिका किसी वस्तु, सूचना अथवा व्यक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान पर आकाशगमन के समान भेजने के अनुसन्धान का भी उल्लेख करती है। वह कहती है लन्दन में वैज्ञानिकों की टीम ने क्वांटम टेलीपोर्टेशन की दिलचस्प तकनीक का इस्तेमाल करके, सूचना को विखण्डित कर, खुले आकाश को माध्यम बनाकर ८९ मील दूर के लक्ष्य स्थान पर भेजने, और वहाँ से फिर उसे उसके मूलरूप में लौटाने में कामयाबी हासिल कर ली है। क्वांटम टेलीपोर्टेशन विज्ञान के उस सिद्धान्त को कहते हैं, जिसके अनुसार किसी पदार्थ को अति सूक्ष्म कणों में विखण्डित करके किसी एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता है। अभी वैज्ञानिक किसी वस्तु अथवा मनुष्य को तो भेजने में सफल नहीं हुए लेकिन वे सन्देश भेजने में अवश्य कामयाब हुए हैं। वैज्ञानिकों ने सूचना भेजने के इस सफल प्रयोग में कानारी द्वीप पर लगी एक टेलीस्कॉप तक सूचना भेजने में प्रकाशकण 'फोटान' का प्रयोग किया। टेलीपोर्टेशन के इस अनुसन्धान में वस्तुओं तथा मनुष्यों को भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने में सफलता मिलने के पश्चात् योगसूत्र वर्णित या समाधि द्वारा प्राप्त आकाशगमन, शरीर का अन्तर्ध्यान होना जैसी क्रियाएँ भी वैज्ञानिक क्रिया मानी जाने लगेंगी। योगसूत्रों की प्रासङ्गिकता व वास्तविकता भी तब ही पहचानी जायेगी।

२ .व्यक्तिगत जीवन में उपादेयता

हमारे शास्त्रों में इस वैज्ञानिक क्रियाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे दिशानिर्देश भी पाये जाते हैं जो व्यक्ति तथा समाज के स्वस्थ विकास, उन्नति तथा आत्यन्तिक कल्याण में सहायक हैं। यदि उन परामर्शों के अनुसार आचरण किया जाए, तो व्यक्ति अपने लौकिक अथवा पारलौकिक लक्ष्य को पा लेता है।

पतञ्जलि ने योग के आठ अङ्ग बताये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। इन उपाङ्गों के पालन से व्यक्ति ईमानदारी (पारदर्शी), सच्चा, चरित्रवान् तथा लोभरहित बनता है। नियम भी पाँच है—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान। इनकी साधना से भी शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक दृष्टि से स्वस्थ विकास होता है। चोरी, डकैती, फर्जीवाड़ा अनेक प्रकार के आर्थिक अपराध, महिलाओं का उत्पीड़न तथा बलात्कार

इत्यादि अपराधों में कमी आती है। आसन, प्राणायाम से शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य में सुधार, प्रत्याहार से इन्द्रियनिग्रह तथा धारणा ध्यान समाधि द्वारा चित्त के निरोधरूपी योग द्वारा मन की शान्ति, एकाग्रता तथा कार्यक्षमता बढ़ती है और मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति अर्थात् आत्मदर्शन की योग्यता आती है।

योगसाधना हेतु उपयोगी परामर्श देते हुए पतञ्जलि व्यक्तिगत जीवन में सफलता पाने के लिए भी उपयोगी सुझाव देते हैं। वे कहते हैं, चित्त की निरोधावस्था पाने के लिए चित्त की वृत्तियों पर अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा नियन्त्रण करना चाहिये।[१] यह अभ्यास भी एक या दो दिन में नहीं बल्कि लम्बे समय तक निरन्तर तथा आदरपूर्वक (लक्ष्य के प्रति) किये जाने पर ही दृढ़ होता है।[२] दक्षता, परिपूर्णता तथा सफलता, चाहे चित्तवृत्ति निरोधरूप योग में पानी हो, अथवा किसी लौकिक कार्य में, उसके लिये निरन्तर, लम्बे समय तक अभ्यास एक मुख्य साधन है। व्यक्ति आत्मविश्वास के साथ, अपने लक्ष्य को पाने के लिए प्रयत्न करता रहे, जो चाहे दीर्घकाल के बाद ही, क्यों न मिले, उसे प्रायः सफलता मिल ही जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण भी *गीता* में कहते हैं—

तत्स्वयं योगसंसिद्ध :कालेनात्मनि विन्दति। — *श्रीमद्भगवद्गीता ४. ३८*

अभ्यास का महत्त्व तो सर्वजनविदित है—

करत–करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जावत ते ,सिल पर परत निसान।।

अंग्रेजी में भी मुहावरा है—'Practice makes a man perfect.'

निरन्तर अभ्यास की अवधि में अपने लक्ष्य के प्रति निष्ठा और श्रद्धा का होना अत्यन्त आवश्यक है। समाधि प्राप्ति के लिए साधना के सहायक तत्त्वों का परिगणन करते हुए पतञ्जलि कहते हैं—(जन्मसिद्ध योगियों से भिन्न) सामान्य योगसाधकों को श्रद्धा, शक्ति, स्मृति (लक्ष्य की निरन्तरस्मृति), समाधि द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है।[३] पतञ्जलि का यह कथन लौकिक क्षेत्र में भी सफलता पाने का उपाय सुझाता है। लक्ष्य पाने के लिए श्रद्धा व विश्वासपूर्वक, पूरी शक्ति से एकाग्र मन से कार्य करने पर सफलता तो मिलती ही है। श्रीकृष्ण भी श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्पर :संयतेन्द्रियः। —*श्रीमद्भगवद्गीता ४. ३९*

अर्थात् तत्पर होकर, इन्द्रियों को वश में करके, जो साधक श्रद्धापूर्वक साधना करता है, उसे ज्ञान प्राप्त होता है। वह अपना लक्ष्य पाने में सफल होता है।

यहाँ सहज ही जिज्ञासा होती है कि कितने समय तक अभ्यास करने के पश्चात् सफलता मिलती है? इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया जा सकता। कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक तथा मानसिक क्षमता भिन्न–भिन्न होती है। जितनी अधिक लक्ष्यप्राप्ति की लगन होती है, जितना अधिक कार्य के प्रति उत्साह होता है, व्यक्ति उतना ही अधिक परिश्रम व चित्त की एकाग्रता से कार्य करने का अभ्यास करता है।

फलस्वरूप उसे सफलता भी उतनी ही शीघ्र मिलती है। योगदर्शन कहता है—तीव्र संवेग से साधना करने वाले साधकों को शीघ्र ही सफलता मिल जाती है।[४]

कभी-कभी दुर्भाग्यवश पूर्वजन्मकृत पापकर्मों के कारण साधनाभ्यास में विघ्न आ जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में अभ्यास की शिथिलता सफलता से कोसों दूर ले जाती है। कभी-कभी अभ्यास करने पर भी, परिश्रम करने पर भी सफलता नहीं मिलती। तब व्यक्ति निराश हो जाता है। वह डगमगा जाता है। उसका स्वयं ईश्वर, भाग्य तथा सम्पूर्ण लौकिक प्रशासनिक व्यवस्था पर से विश्वास उठ जाता है। कभी-कभी निराशा में भकर, वह अवसादग्रस्त हो जाता है और आत्महत्या तक कर बैठता है, तो कभी आक्रोशित होकर, अपनी असफलता का दोष प्रशासन, सामाजिक व्यवस्था तथा न्याय व्यवस्था के सिर मढ देता है और विद्रोही हो जाता है। तब उग्र स्वभाव का व्यक्ति परपीड़क, क्रूर, अत्याचारी बन कर सभी को सताने लगता है।

निष्काम कर्म—ऐसी मन:स्थिति में ही व्यक्ति के साहस, चरित्र, संस्कारों तथा धैर्य की परीक्षा होती है। शास्त्र हमें अवसाद के समुद्र से उबरने का मूलमन्त्र बताते हैं। वे कहते हैं—सफलता - विफलता को एक समान समझते हुए समत्वभाव से कार्य करो। भगवान् कृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन! तुम आसक्ति को त्याग कर तथा सफलता और विफलता में समान भाव रख कर, योग में स्थित होकर कर्म करो, क्योंकि कर्म की सफलता, असफलता तथा उसके फल में समभाव रहना ही योग है।[५] निराशा के क्षणों में सान्त्वना देते हुए श्रीकृष्ण पुन: कहते हैं कि तत्काल सफलता चाहे न भी मिले, परन्तु परिश्रम से कोई हानि या दुष्परिणाम नहीं होता है।[६] निराशा के आक्रमण से बचने के लिए निष्काम कर्मयोग की यह शिक्षा हमारी अद्‌भुत विरासत है।

शास्त्र कहता है कार्यों में असफलता मिलने पर मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अशान्ति न फैलाये, अनुशासनहीनता न करे, तथा धैर्यपूर्वक स्वयं को स्थिर करे। दूसरों की सफलता से दु:खी न हो, उनसे ईर्ष्या अथवा घृणा न करो, अपनी असफलता के कारण सामाजिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था को भङ्ग मत करो। काम, क्रोध और लोभ की तिकड़ी को नरक का द्वार कहा गया है।[७] तुलसीदास जी *रामचरितमानस* में काम, क्रोध व लोभ का परिणाम बताते हुए कहते हैं—

काम वात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा। —*उत्तरकाण्ड, रामचरितमानस।*

अर्थात् अधिक काम (इच्छाएँ) वातविकार को जन्म देता है, लोभ कफ वृद्धि करता है तथा क्रोध पित्त को बढ़ा देता है, जिससे छाती में जलन होती है। आधुनिक एलोपैथिक डॉक्टर भी स्वीकार करते हैं कि दूषित मनोवृत्तियाँ, जैसे-क्रोध, राग, द्वेष, भय, लोभ, मोह, अभिमान इत्यादि शरीर के ग्रन्थितन्त्र (Endocrine Glands) को प्रभावित करती है। फलस्वरूप पिच्यूटरी, थाइराइड, पैनक्रियाज़ इत्यादि ग्रन्थियों से निकलने वाला स्राव असन्तुलित हो जाता है। इन ग्रन्थियों का स्राव मनोभावों से प्रभावित होता है और सीधा रक्त में मिलता है। नकारात्मक भावनाओं के प्रभाव से इन ग्रन्थियों का स्राव आवश्यक मात्रा से कम अथवा अधिक निकलने लगता है, तथा अनेक रोगों को जन्म देता है। पैनक्रियाज़ का स्राव (इन्सुलिन) असन्तुलित होने पर डायबिटीज़ को जन्म देता है, एड्रिनल का स्राव असन्तुलित होकर गुर्दों से सम्बन्धित रोग उत्पन्न करता है।

पिच्यूटरी तथा थाइराइड के स्रावों द्वारा समूचा ग्रन्थिसमूह व शरीरचयापचय की क्रिया प्रभावित होती है। इनके स्रावों का असन्तुलन सभी Endocrine Glands के कार्य में विकार पैदा करता है जिससे सारा स्वास्थ्य प्रभावित होता है। अनेक मनोदैहिक (Psycho Somatic) रोग घेर लेते हैं, जैसे–डायबिटीज़, जिगर व गुर्दों से सम्बन्धित रोग, एसिडिटी, अल्सर, मूत्रसम्बन्धी रोग, हृदयरोग, मस्तिष्काघात, हाई ब्लड प्रेशन, अस्थमा आदि। इन सब रोगों से बचने के लिए, असफलताजन्य निराशा आदि से बचने के लिए निष्काम कर्मयोग तथा धारणाध्यानसमाधि द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोधरूपी योगसाधना का परामर्श हमारे शास्त्रों की अद्‌भुत देन है। व्यक्तिविकास, चरित्रनिर्माण तथा आत्यन्तिक मानवकल्याण के इच्छुक व्यक्तियों के लिए निष्ठापूर्वक, लम्बे समय तक, निरन्तर तथा फल की चिन्ता त्याग कर अभ्यास करने का परामर्श आज भी प्रासङ्गिक है।

३ .सामाजिक कल्याण की दृष्टि से उपयोगिता

अनेक व्यक्तियों का समूह ही समाज है। समाज में विभिन्न वर्गों तथा स्वभाव वाले मनुष्य रहते हैं। हमारे शास्त्र उनसे ऐसा व्यवहार करने की शिक्षा देते हैं, जिससे व्यक्ति तथा समाज, दोनों का कल्याण होता है। रहीमदास जी कहते हैं—कुटिल तथा ओछे विचारों वाले मनुष्यों से दूर ही रहना चाहिए क्योंकि उनके साथ मित्रता तथा शत्रुता, दोनों ही हानिकारक है।

रहिमन ओछे नरन सों, तजियो बैर और प्रीत।
काटे चाटे स्वान के ,दुहुँ भाँति विपरीत।।

कुत्ता यदि प्रेमवश हमारे किसी अङ्ग को चाट ले, तो अङ्ग गन्दा होता है और क्रोध करके काट ले तो अङ्ग घायल होता है। दुष्टों से दूर रहने से मनुष्य उनके अत्याचारों से बच जाता है। दूसरी ओर तुलसीदास जी का कहना है, सभी में सीता राम का निवास है—

सीताराममय सब जग जानी। करहुं प्रणाम जोरि जुग पानि।

वे सभी को प्रणाम करते हैं और कहते हैं कि इस संसार में भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्य रहते हैं। सबसे प्रेमपूर्वक मिलजुल कर रहो, जैसे नदी में नाव चलती है—

तुलसी या संसार में, भाँति-भाँति के लोग।
हिलिये मिलिये प्रेम से ,नदी नाव संयोग।

अर्थात् ऐसा व्यवहार करने वाला व्यक्ति प्रेम से सामाजिक जीवन बिताता है। अब प्रश्न है कि "एक साधारण व्यक्ति समाज में किस प्रकार व्यवहार करे?" जिससे सभी का कल्याण हो। दुष्टों से दूर ही रहे, अथवा मिल-जुल कर रहे?

महर्षि पतञ्जलि परामर्श देते हैं कि सुखी व्यक्तियों के प्रति मित्रता का भाव रखो, और दुःखी व्यक्तियों के प्रति दया का भाव। पुण्यात्मा, पुण्यकर्म करने वाले धर्मात्मा तथा परोपकारियों को देखकर प्रसन्न होना चाहिए तथा पापकर्म लीन व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा का भाव रखो।[८] जब सुखी व्यक्तियों के प्रति मित्रता की भावना

होगी, तो मन में शान्ति रहेगी। यदि मित्रता के भाव के स्थान पर ईर्ष्या, द्वेष का भाव होगा तो उस सुखी व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक अथवा आर्थिक कष्ट देने की प्रवृत्ति पनपेगी। यह हिंसा की प्रवृत्ति व कार्य आरम्भ हो जाये तो, दोनों ही पक्षों की हानि होती है, आपसी वैमनस्य बढ़ता है, जिसका अन्त विनाश है। दोनों का तन, मन, धन क्षीण होता है। शक्तियों का दुरुपयोग तथा विकास व उन्नति का मार्ग अवरुद्ध होता है। अत: अपनी मानसिक प्रसन्नता तथा शान्ति बनाये रखने के लिए सुखी व्यक्ति के प्रति मित्रभाव रखना, आपसी सौहार्द्र को भी बढ़ाता है। मैत्रीबल बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। मित्रों की सहायता से, कम शक्तिशाली होने पर भी व्यक्ति, अपने लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ होता है। कहा गया है—

बृहत्सहाय: क्षोदीयानपि कार्यान्तं गच्छति।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्य नगापगा।।

अर्थात् छोटी-सी पहाड़ी नदी, विशाल नदी से मिलकर सागर तक पहुँच जाती है। बड़े सहायकों वाला, छोटा व्यक्ति भी कार्यों में सफलता पा जाता है। ये मित्रता की शक्ति का कमाल है। यह परामर्श आधुनिक युग में भी व्यावहारिक तथा पारमार्थिक, दोनों ही दृष्टियों से श्रेयस्कर है।

दु:खी प्राणियों के लिए करुणा का भाव रखने की शिक्षा भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। दया की भावना दु:खी व्यक्तियों के दु:ख कम करने तथा उनकी सहायता करने की प्रेरणा देती है। दूसरों की सहायता तथा उपकार करने से दु:खी व्यक्ति का दु:ख दूर होता है तथा उपकारी व्यक्ति को सहायता करने से आनन्द, आत्मिक सन्तोष व सुख मिलता है, जिस प्रकार मेहन्दी बाँटने वाले को अनायास ही मेहन्दी का रंग लग जाता है।

यदि दु:खी व्यक्ति का दु:ख दूर न किया जाए, तो यह सामाजिक उन्नति में व्यवधान है। ऐसा व्यक्ति अपने कष्ट से छुटकारा पाने के लिए अनैतिक तथा अवैध साधनों का भी प्रयोग कर सकता है।

बुभुक्षित :किं न करोति पापम् ,क्षीणा :जना :निष्करुणा :भवन्ति।

अत: सामाजिक शान्ति, सौहार्द्र, समरसता बनाये रखने के लिए प्रत्येक दु:खी मनुष्य का दु:ख दूर करने का यथाशक्ति प्रयास करना आवश्यक है। इसके लिए मन में दयाभाव ही प्रेरणा देता है।

पतञ्जलि तीसरा व्यावहारिक परामर्श देते हैं—पुण्यात्माओं के लिए प्रसन्नता का भाव रखो। इस प्रकार के आचरण द्वारा व्यक्ति धर्मात्मा तथा पुण्यात्माओं के प्रति श्रद्धापूर्वक प्रसन्नता व्यक्त करता है तथा उन्हें प्रोत्साहन देता है। प्रसन्नता पुण्याचरण के प्रति स्वीकृति तथा आदरभाव की अभिव्यक्ति है, जो परोक्ष रूप से धर्माचरण को प्रोत्साहित करती है। फलस्वरूप समाज में सदाचार, सुख व शान्ति की वृद्धि होती है।

पतञ्जलि पापियों तथा कुत्सित कर्म करने वालों के प्रति उपेक्षा का भाव रखने की शिक्षा भी देते हैं। इससे योगसाधक के मन की शान्ति भङ्ग नहीं होती। पापी तथा कुकर्मी लोग समाज में नासूर की तरह होते हैं, जो जनता को निरन्तर पीड़ित करते रहते हैं। न्यायालय द्वारा दण्ड देकर उन पर अङ्कुश लगाने का प्रयास किया जाता है। परन्तु ऐसा हो नहीं पाता। दण्ड के रूप में मिली जेल में निवास की सजा उनकी आपराधिक प्रक्रियाओं को अधिक बढ़ा देती है। वे नये-नये अपराध व उनके अनोखे तरीके सीखकर तथा पहले से भी

अधिक शातिर अपराधी बन कर बाहर निकलते हैं तथा अपराध जगत् में सक्रिय हो जाते हैं। अत: दण्डविधान अपराधियों का सुधार करने का अचूक साधन नहीं है।

योगदर्शन परामर्श देता है—पापाचारियों के प्रति उपेक्षा का भाव रखो, उनकी तरफ ध्यान मत दो। यह परामर्श विवेचनीय है। प्रश्न है कि कानून का उल्लङ्घन करने वालों की उपेक्षा तो गैरकानूनी कार्यों की संख्या में वृद्धि कर देगी, उन्हें बढ़ावा देगी। तो उनकी उपेक्षा केरके हम अपने सजग-नागरिक के कर्त्तव्यों का निर्वाह कैसे करेंगे? समाज में सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए नागरिकों का भी तो कर्त्तव्य है कि वे अपराधियों व गैरकानूनी कार्यों के विषय में पता चलने पर तुरन्त पुलिस को अथवा सम्बन्धित विभागाधिकारी को सूचित करे। निश्चय ही पापकर्मियों की उपेक्षा उनके कुत्सित कार्यों को बढायेंगी ही। अत: किसी भी सजग नागरिक को उनकी उपेक्षा नहीं, बल्कि विरोध करना चाहिए, ताकि न्यायालय द्वारा उसका नियन्त्रण किया जा सके।

प्रश्न उठता है कि योगदर्शन का यह सुझाव अपुण्यात्माओं के प्रति उपेक्षा भाव रखो—क्या अनुचित है? अप्रासङ्गिक है? यह आक्षेप विवेकपूर्ण चिन्तन की ओर प्रेरित करता है। गैरकानूनी, अवैध तथा पापकर्मों के प्रति रुझान के अनेक कारण होते हैं। उनमें से एक कारण है—अवैध कार्यों तथा उनको करने वाले व्यक्तियों का प्रचार, प्रसार। यह प्रचार सिनेमा, दूरदर्शन, उपन्यास, नाटक, कथा आदि साहित्य और समाचारपत्रों द्वारा जाने-अनजाने किया जाता है। चोरी, डकैती, हिंसा, भ्रष्टाचार, स्मगलिंग, आतङ्कवाद, नशाखोरी इत्यादि से सम्बन्धित कथानकों पर आधारित फिल्मों से प्रेरणा पाकर अनेक व्यक्ति अपराध जगत् में प्रवेश करते हैं। समाचारपत्रों में इस आशय के भी समाचार पढ़ने को मिले हैं, कि सस्ती प्रसिद्धि व प्रचार पाने के लिए भी कुछ लोग अपराधों में संलिप्त होते हैं। अपराधों के प्रचार-प्रसार से कुछ व्यक्तियों के मन में उनके प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है तथा वे उनके विषय में सोचने लगते हैं। विचारों से व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रभावित होता है, कीटभृङ्गन्याय द्वारा। एक कीड़ा भौंरें को अपने जाल में कैद करके उसके चारों ओर भिनभिनाता रहता है। उस कीड़े के डर से भौंरा प्रतिक्षण उस कीड़े का ही चिन्तन करता रहता है व कुछ समय पश्चात् भौंरा उस कीड़े के रूप में बदल जाता है। यह सत्य है कि मनुष्य जिसका चिन्तन करता है, वह उसी के जैसा हो जाता है। अत: हमारी संस्कृति में शुभकर्मों, देवताओं, महापुरुषों, पुण्यात्माओं का चिन्तन व अनुकरण करने की शिक्षा दी गई है ताकि हम उनके जैसे महान् बने। इसीलिये पापियों की भी उपेक्षा करने का परामर्श दिया है, ताकि पापियों का प्रभाव हम पर न पड़े। इस सन्दर्भ की गुरुनानकदेव जी के जीवन की एक घटना उल्लेखनीय है।

एक बार गुरुनानकदेव जी अपने शिष्यों के साथ घूमते हुए एक गाँव में पहुँचे। गांववासियों ने उनकी अच्छी तरह आव-भगत की, सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखा। कुछ काल बाद जब गुरु नानकदेव जी, वहाँ से चलने लगे, तो उन्होंने ग्रामवासियों के लिए कहा—ईश्वर करे यह गाँव उजड़ जाये, भूकम्प आये और सारे लोग बेघर होकर इधर-उधर बिखर जायें। ... कुछ समय बाद घूमते हुए गुरुजी एक और गाँव में पहुँचे, परन्तु उस गाँव के निवासियों ने गुरुनानक देव जी की कोई सेवा, स्वागत, सत्कार नहीं किया। भोजन को भी

नहीं पूछा। जब गुरु महाराज गाँव से चलने लगे तो बोले—ईश्वर करे, यह गाँव खुशहाल रहे, फले फूले। अब शिष्यों को गुरुदेव की इस बात पर असीम आश्चर्य हुआ। जिन्होंने पानी, भोजन को नहीं पूछा, उन्हें तो खुशहाली का आशीर्वाद दिया और जिन्होंने सज्जनतापूर्वक प्रेम व श्रद्धा के साथ स्वागत सत्कार किया, उन्हें गाँव उजड़ने का आशीर्वाद! भला ऐसा क्यों गुरुजी? शिष्यों ने पूछा। गुरुदेव बोले—बेटा, जिन्होंने भोजन पानी को नहीं पूछा, ऐसे धृष्ट लोग एक ही जगह रहें, बिखरे नहीं, वरना वे अपने अवगुणों का प्रभाव दूसरों पर भी डाल देंगे। अत: मैंने उन्हें खुशहालीपूर्वक अपने गाँव में रहने का आशीर्वाद दिया है परन्तु जिन्होंने हम सन्तों की प्रेमपूर्वक सेवा की, भोजन पानी आदि सुविधाओं का ध्यान रखा, वे सज्जन लोग जहाँ भी जायेंगे, अपने गुणों से दूसरों पर सकारात्मक प्रभाव डालेंगे। यदि गाँव उजड़ेगा नहीं तो वे घर छोड़कर नहीं जायेंगे। अत: मैंने उस गाँव को उजड़ने का आशीर्वाद दिया। बेटा, अवगुण एक ही जगह दबे पड़े रहें तो अच्छा है। उनका प्रसार नहीं होना चाहिये और सद्‌गुणों का प्रसार होना चाहिये, ताकि उनकी सुगन्ध दूर-दूर तक फैले।

इस कथा से भी स्पष्ट होता है कि बुराई को फैलने नहीं देना चाहिये। बुरे लोगों का जनसम्पर्क कम रहे, जिससे उनका दुष्प्रभाव अन्य लोगों पर न पड़े। अत: बापू के तीन बन्दर भी बुरा सुनने, देखने और बोलने से बचने की शिक्षा देते हैं।

मेरे विचार से पतञ्जलि भगवान् का यही अभिप्राय है कि पापियों की उपेक्षा की जाये, उन्हें महत्त्व न दिया जाए। समाचार पत्रों में अनेक अपराधियों के वक्तव्य छपते हैं, जिनमें वे स्वीकार करते हैं कि अपने अपराध की प्रेरणा उन्हें अमुक फिल्म से मिली। कोई-कोई व्यक्ति सस्ती प्रसिद्धि पाने तथा लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए भी पापकर्मों की ओर प्रवृत्त होना स्वीकार करते हैं।

निश्चय ही, आपराधिक प्रवृत्ति का यह एकमात्र कारण नहीं है, परन्तु फिर भी अनेक कारणों में से यह एक कारण तो है ही। अत: पापियों के प्रति उपेक्षा का भाव रखने से व्यक्ति के मन में पापकर्म का चिन्तन नहीं होगा, जिससे उसकी मनोवृत्तियाँ कलुषित नहीं होंगी और मन शान्त व प्रसन्न रहेगा। दूसरों और समाज में उपेक्षा पाये पापियों का समाज पर प्रभाव भी कम पड़ेगा तथा वे अन्ततः पापकर्म के प्रति हतोत्साहित भी होंगे।

इस प्रकार 'योगसूत्र' की शिक्षाएँ योगियों तथा योगसाधकों के लिए ही उपयोगी नहीं है, बल्कि ये प्रत्येक व्यक्ति के स्वस्थ विकास व कल्याण की राह दिखाने वाले प्रकाशस्तम्भ हैं। ये सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक उपदेश सम्पूर्ण मानवजाति को सुखशान्ति की ओर अग्रसर कराने वाले होने के कारण, आधुनिक युग में भी प्रासङ्गिक हैं।

सन्दर्भ

१. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध:। — *योगसूत्र* १.१२
२. स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि:। — *योगसूत्र* १.१८
३. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिपूर्वकमितरेषाम्। — *योगसूत्र* १.२०

४. तीव्रसंवेगानामापन्नः। – *योगसूत्र*, १.२१

५. योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। – *गीता*, २.४८

६. न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति। – *गीता* ६.४

७. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभः, तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।– *गीता* १६.२१

८. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। – *योगसूत्र*, २.३३

पूर्व एसोसियेट प्रोफेसर, संस्कृत
मैत्रेयी कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
BF-१५ जनकपुरी, नई दिल्ली–५८

अहैतुकी श्रीभगवत्कृपा

डॉ.कमलाकान्तत्रिपाठी

वेदान्तविचारमाला ग्रन्थ में श्रीमद्बालधन्विजग्गुवेङ्कटाचार्यजी ने अपनी युक्तियों से श्रीसंप्रदायसिद्ध अनेक सिद्धान्तों का निरूपण किया है। पूरे ग्रन्थ के अवलोकन से यही निश्चित होता है कि आचार्यश्री का उक्त ग्रन्थ निगमान्तदेशिकस्वामिवर्यश्रीमद् वेङ्कटनाथाचार्य के कुछ सम्प्रदायविरुद्ध अर्थ के निराकरण द्वारा श्रीसम्प्रदायसिद्ध सिद्धान्तरत्नों के व्यवस्थापन के लिए रखा गया है। उक्त वेदान्त विचारमाला के ऊपर पुन: विचार के लिए मेरे हृदय में एक प्रेरणा प्रकट हुई इन विषयों पर पुन: विचार आवश्यक भी है। जिनका निराकरण वेदान्त विचारमाला में है वे भी कोई ऐसे वैसे आचार्य नहीं हैं कि आपातत: विरुद्ध जैसी प्रतीत वस्तुओं का आँखें मूंद कर निराकरण ही कर दिया जाय। इस प्रकार यहाँ पर मेरा व्यापार सम्प्रदाय सिद्ध अर्थों को सुस्पष्ट करने के लिए ही है न कि अपने पाण्डित्य को प्रदर्शित करने के लिए।

ग्रन्थ के प्रथम पुष्प में श्रीभगवत्कृपा के निर्हेतुकत्व के ऊपर विचार किया गया है कि भगवान् की कृपा जीवों पर किसी कारण से होती है या अकारण? संसार का कोई भी कार्य अकारण नहीं होता। यदि श्रीभगवान् की कृपा कार्य है तो अवश्य इसमें कोई कारण होगा क्योंकि कार्यत्व की व्याप्ति सकारणत्व से है। भगवान् की कृपा आकस्मिक होती है, ऐसा ग्रन्थकार ने स्वयम् स्वीकार किया है—

आकस्मिकीं कृपां विष्णोः केचिदाहुरहेतुकाम्।

जो आकस्मिक हो उसे कार्य ही कहेंगे। एवञ्च, **श्रीभगवत्कृपा सहेतुका आकस्मिकत्वात् उर:स्तम्भादिवत्**, इसी अनुमान से श्रीभगवत् कृपा सहेतुक है, यह बात सिद्ध हो जाती है। यदि श्रीभगवान् की कृपा अहैतुकी होगी तो वह आकस्मिक नहीं होगी। वह नित्य सदातन ही होगी। तथा च, यह प्रयोग होगा—

श्रीभगवत्कृपा आकस्मिकी न भवति निर्हेतुकत्वात् व्योमवत् आत्मवत् वा।

इस प्रकार प्रकृत ग्रन्थकार ने प्रतिज्ञाश्लोक से ही प्रतिपाद्य विषय से विरुद्ध अर्थ को प्रकट करके अपने ग्रन्थ के प्रति सहृदय के सरस मन को विरस कर दिया है। वहाँ पर पूर्वपक्ष में यही कहा है कि यदि श्रीभगवत्कृपा निर्हेतुक होगी तो सभी मुक्त हो जायेंगे और श्रीभगवान् में वैषम्य, नैर्घृण्य (निर्दयता) आदि दोषों की प्रसक्ति होगी। अत: भगवत्कृपा सहेतुक ही होनी चाहिए। यह पूर्वपक्ष श्रीवेदान्तदेशिकस्वामीजी के मतानुसार है, इसे ध्वनित करने के लिए श्रीस्वामीजी के *रहस्यत्रयसार* ग्रन्थ के प्रथमाधिकार के अन्तिम श्लोक के अनुसन्धान के लिए कहा है। वह श्लोक इस प्रकार है—

कर्माविद्यादिचक्रे प्रतिपुरुषमिहानादिचित्रप्रवाहे,
तत्तत्काले विपत्तिर्भवति हि विविधा सर्वसिद्धान्तसिद्धा।
तल्लब्धस्वावकाशप्रथमगुरुकृपागृह्यमाण: कदाचित्,
मुक्तैश्वर्यान्तसम्पन्निधिरपि भविता कश्चिदित्थं विपश्चित्।।

इस श्लोक का यही निर्मलितार्थ है कि श्रीभगवान् की कृपा तभी होती है जब जीवों के पुण्यों का परिपाक होता है। इस प्रकार भगवान् की कृपा निर्हेतुक नहीं होगी, यह श्रीवेदान्तदेशिकस्वामीजी के मत से सिद्ध होगा।

किं बहुना? श्रीभगवद्गीता का यदि यथासम्प्रदाय अनुसन्धान किया जाय तो भी यही बात सिद्ध होगी कि श्रीभगवत्कृपा में यथावत् शास्त्रार्थों का अनुष्ठान ही हेतु है। प्रपन्न के ऊपर श्रीभगवान् की कृपा होती है, इसमें शास्त्रों के साथ-साथ श्रीभगवत्कृपानिर्हेतुककटाक्ष के भाजन श्रीपराङ्कुशमुनि आदि दिव्यसूरि का अनुभव भी प्रमाण है। स्वयम् श्रीभगवान् का भी ऐसा ही कथन है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेव :सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:।। —*श्रीगीता, ७/१९*

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत:।। — *श्रीगीता ७/३*

यहाँ यही सिद्ध होता है कि प्रपत्ति अकस्मात् नहीं होती। यदि प्रपत्ति अकस्मात् नहीं होगी तो भगवत्कृपा कैसे अकस्मात् हो सकती है? *वेदान्तविचारमाला* के रचयिता ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि श्रीभगवान् की कृपा जीवों पर अकस्मात् होती है। अकस्मात् होने के कारण ही वे भगवत्कृपा को अहेतुक सिद्ध करते हैं। उनके इस विरुद्ध अर्थ के प्रसाधन को मैंने पहले ही निराकृत कर दिया है। प्राय: यह लोक को भ्रम होता है कि जो वस्तु अकस्मात् पैदा होती है वह अहेतुक होती है। वस्तुत: वैसा नहीं होता। अकस्मात् पैदा होने वाली वस्तु भी सहेतुक ही होती है। अकस्मात् पैदा होने वाली वस्तु में उसके हेतु का आकलन तत्काल नहीं हो पाता, यह दूसरी बात है। कहते ही हैं लोग कि अमुक व्यक्ति चलते-फिरते अकस्मात् चले गये। चलते-फिरते अकारण चले गये, यह अर्थ तो इसका नहीं होगा। उनके जाने में कोई-न-कोई कारण अवश्य होगा। हार्ट-अटैक आदि कोई-न-कोई कारण अवश्य होगा। यदि ऐसी बात है तब आचायवर्य श्रीबालधन्वी जी का—

एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभि:।
जीवे दु:खाकुले विष्णो :कृपा काप्युपजायते।।

इस श्लोक में कृपा के 'कापि' विशेषण के प्रभाव से उसके आकस्मिकत्व को सिद्ध करके अहेतुकत्व को सिद्ध करना वृथा परिश्रम माना जायेगा।

श्री जगुवेङ्कटाचार्य जी ने अपने सिद्धान्तपक्ष की स्थापना के लिए यही कहा है कि श्रीभगवान् के निर्हेतुक कटाक्ष से सर्वज्ञकल्प होने वाले श्रीपराङ्कुशमुनि आदि प्रपन्नजन अपने प्रबन्धों में भगवान् की कृपा को

निर्हेतुक कहा है। उनका श्रीभगवत्कृपाविषयक अनुभव निर्हेतुक ही हो सकता है जहाँ अप्रामाण्य का गन्ध भी नहीं है। व्याख्याकारों ने भी वैसा ही माना है।

इस विषय में यही मैं कहूँगा कि श्रीमद्दिव्यसूरियों के अनुभव से सारी शास्त्रीय प्रक्रिया और सकल लोक के अनुभव का बोध होता हो तो उनके अनुभव की अन्यथा कल्पना की जानी चाहिए। इस प्रकार भूयोऽनुग्रहन्याय उत्पन्न होगा। केवल प्रपन्नों के अनुभवानुरोध से सारी व्यवस्थाओं और श्रीभगवान् के अनुभव को भी बाधित कर देना उचित नहीं है। श्रीभगवान् को कुछ ही पुरुष प्रिय होते हैं जो शास्त्र का यथावत् पालन करते हैं। शास्त्रनिष्ठ पुरुषों के प्रति श्रीभगवान् के प्रेमोदय में उनकी दया ही कारण है। लोक में भी दयाप्रयुक्त ही प्रीति देखी जाती है।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़ निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। — *श्रीगीता १२/१४*

इत्यादि वचनों से श्रीभगवान् ने कुछ ही शास्त्रनिष्ठ भक्तों में अपने प्रेम को प्रकट किया है, जिससे उन्हीं में उनकी दया द्योतित होती है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।। — *श्रीगीता १/२०*

इस वचन से श्रीभगवान् की कृपा के तारतम्य को भी समझा जा सकता है। श्रीभगवान् की कृपा का यह तारतम्य ही उसके सहेतुकत्व को सिद्ध करता है।

भगवान् की कृपा निर्हेतुक होती है, इसे सिद्ध करने के लिए श्रीमान् आचार्य को अनेक प्रमाणों की उपलब्धि हुई है। उन प्रमाणों में एक प्रमाण श्रुति है—**स एकाकी न रमते**। अर्थात् भगवान् को अकेलापन अच्छा नहीं लगता। इस श्रुति के अर्थ को उन्होंने कुछ इस तरह से झलकाया है—

जैसे पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि के साथ रहने वाला कोई कुटुम्बी उनसे अलग होकर क्लेश प्राप्त करता है वैसा ही क्लेश श्रीभगवान् को उस समय होता है जब प्रलय में वे अपनी लीलाविभूति के साथ नहीं रहते।

इस प्रकार से भगवान् को उन्होंने एक मोहग्रस्त कुटुम्बी जैसा बना दिया है जो भगवान् के उपदेश के ही विरुद्ध है। श्रीगीता के पन्द्रहवें अध्याय में श्रीभगवान् ने संसारवृक्ष को असङ्गरूपी शस्त्र से काटने को कहा है—**असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा**। पुत्र, वित्त और लोक की तीनों एषणाओं से व्युत्थान ही असङ्गशस्त्र है। वहीं पर श्रीभगवान् ने सङ्ग को दोष माना है— **निर्मानमोहाजितसङ्गदोषाः**।

इसीलिए श्रीभगवत्पद के अभिलाषी पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि बन्धुओं को त्याग कर श्रीभगवदामुख्य में ही परम सुख की गवेषणा करते हैं। इस प्रकार यही निश्चित होता है कि श्रीभगवान् में सङ्ग के अभाव में क्लेश का आपादन असङ्गत है। वस्तुतस्तु सर्वान्तर्यामी और सर्वभूताधिष्ठान होने के कारण स्वशरीरभूतचित् और अचित् से श्रीभगवान् दूर नहीं है।

आगे उन्होंने आक्षेप किया है कि जगत्सृष्टि में चेतन पुरुषों का कर्म ही कारण है। इस आक्षेप के समाधान में उन्होंने कहा है कि सामान्य सृष्टि में केवल भगवत्कृपा ही कारण है, विषमसृष्टि में ही केवल कर्म ही कारण है। इस प्रकार उन्होंने असंकुचित श्रीभगवत्कृपा को संकुचित करने का प्रयास किया है। अपने इस समाधान में उन्होंने पराशर के वचन को उद्धृत किया है—

निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि।
प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः।।

इसके तात्पर्य को उन्होंने कुछ इस तरह प्रकट किया है—

सृष्टिसामान्ये भगवानेव कारणम्। विषमसृष्टौ तत्तत्कर्मैव कारणमित्यर्थः। अतो भगवत्कृपयैव जगत्सृष्टिः।

उक्त श्लोक में यही कहा गया है कि स्रष्टव्य पदार्थों की सृष्टि में श्रीभगवान् केवल निमित्त हैं। इसी अर्थ की दृढ़ता के लिए समर्थक वाक्य द्वितीय है—क्योंकि सृष्टि में प्रधान कारण स्रष्टव्य पदार्थों में विद्यमान उनकी शक्तियाँ हैं। जीवों की शक्तियाँ उनके कर्मबीज हैं और अचित् की शक्ति उसका परिणामिस्वभाव है। श्रीभगवान् में प्रसक्त वैषम्य और नैर्घृण्य दोषों का परिहार इस तरह होता है। एवञ्च, श्रीभगवत्कृपा से ही सृष्टि होती है, यह बात सिद्ध नहीं होती क्योंकि जीवों के कर्मबीज भी उसमें सहायक होते हैं या प्रधान कारण हैं। इसे आगे कुछ उदाहरण के द्वारा उन्होंने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सामान्य सृष्टि में श्रीभगवत्कृपा ही कारण है। विचार करने पर उनके अभीष्ट सिद्धान्त की स्थापना उन उदाहरणों से नहीं होती। तथा हि—

जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः।
सात्त्विक :स तु विज्ञेय :स वै मोक्षार्थचिन्तकः।।

यहाँ पर उन्होंने कहा है—'यं पश्येत्' इस निर्देश के होने से और विशेष अधिकारी का निर्देशन होने से श्रीभगवान् की कृपा निर्हेतुक हैं। उनका यह कथन उनके स्थूल विचार का परिचायक है। उक्त श्लोक का यही भाव है कि जो पुरुष श्रीभगवदृष्टि का विषय है वही सात्त्विक और मोक्ष का चिन्तक है। मोक्षार्थ के चिन्तन में सात्त्विक पुरुष अधिकारी है, ऐसा सुस्पष्ट निर्देश है तो फिर अधिकारी विशेष का निर्देश नहीं है, यह कहना कैसे उचित होगा। यदि अधिकारी विशेष का निर्देश नहीं है तो विश्वजिन्न्याय से उसकी कल्पना की जा सकती है। 'विश्वजिता यजेत' में नियोग की प्रतीति के लिए तदन्वयानुगुण 'स्वर्गकाम' नियोज्य की कल्पना की जाती है। 'यं पश्येत्', यह निर्देश भी अर्थापत्ति से अधिकारी विशेष को सूचित कर रहा है। श्रीभगवान् की दृष्टि को अपनी ओर खींच लेने वाला कोई ज्ञानविज्ञान से युक्त असाधारण पुरुष ही होगा। उस असाधारणता की प्राप्ति में अनेक जन्म भी लेने पड़ते हैं। नारद, काकभुसण्डी आदि भागवतपुरुष इसमें दृष्टान्त हैं। कहा भी है—

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।। —*श्रीगीता, ६/४५*

श्रीभगवान् की कृपा विशेषनिष्ठ होती है अत: उसे अहेतुक नहीं माना जा सकता। चतुर्दश विद्यास्थानों की सार्थकता भी तभी होगी जब श्रीभगवत्कृपा को सहेतुक ही माना जायेगा।

आगे उन्होंने जो ब्रह्मा की सृष्टि और उनको ज्ञान प्रदान में श्रीभगवत्कृपा को ही हेतु के रूप में स्वीकार किया है वह भी उक्त युक्ति से खण्डितप्राय है। ब्रह्मा की सृष्टि सामान्य सृष्टि उनके मतानुसार हुई क्योंकि सामान्यसृष्टि में उन्होंने कृपा को ही कारण माना है। स्तम्ब से लेकर ब्रह्मतक की सृष्टि कर्मों के तारतम्य के अनुरूप ही होती है, ऐसा यतीन्द्र रामानुजाचार्यजी का दर्शन है। जैसाकि *वेदार्थसंग्रह* में भी उन्होंने कहा है—

अस्य जीवात्मनोऽनाद्यविद्यासञ्चितपुण्यपापरूपकर्मप्रवाहहेतुकब्रह्मादिसुरनरतिर्यक्स्थावरात्मकचतुर्विधदेह-प्रवेशकृततत्तदात्माभिमानजनितावर्जनीयभवभयविध्वंसना... प्रवृत्तं हि वेदान्तवाक्यजातम्।

यहाँ पर श्रीयतीन्द्र ने सारी सृष्टि को सहेतुक कहा है तो श्रीबालधन्विजग्गुवेङ्कटाचार्य जी का सामान्यसृष्टि को निर्हेतुक और विषम सृष्टि को सहेतुक कहना मूल का ही उच्छेदन करके एक नूतन उपसिद्धान्त के स्थापन मात्र है। जिन उदाहरणों से उन्होंने ब्रह्म आदि को शास्त्रप्रदान, स्वेच्छावतार में श्रीभगवत्कृपा को ही हेतु माना है वह सब असंगत ही है। स्वेच्छावतार में भी प्रपन्नपालन, भूभारापहरण आदि अनेक हेतु है।

नायमात्मा प्रवचेन लभ्य:, धातु: प्रसादान्महिमानमीशम् इत्यादि श्रुतियों को वे श्रीभगवत्कृपा के निर्हेतुकत्व में उद्धृत करते हैं जो असंगत है। यहाँ पर भी श्रीभगवत्प्रसाद में अनेकजन्मसंचित सुकृतविशेष ही हेतु है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो सकलशास्त्र निरवकाश होने लगेंगे।

प्रकृत ग्रन्थ के रचयिता ने यह प्रसङ्ग भी उठाया है कि प्रतिपक्षी ने जो तत्त्वज्ञान, मोक्ष में रुचि आदि में अज्ञात सुकृत (पुण्य) को ही हेतु के रूप में स्वीकार किया है, वह उचित नहीं है क्योंकि अज्ञात सुकृत में यदि श्रीभगवत्कृपा ही हेतु है तो उसी कृपा से तत्त्वज्ञान, मोक्षरुचि आदि का निर्वाह हो जायेगा, मध्य में अज्ञात सुकृत को हेतु के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ उन्होंने एक न्याय का भी आविष्कार किया है—

तद्धेतोरेव तद्हेतुत्वे सिद्धे मध्ये किं तेन।

आचार्यश्री का यह द्राविड प्राणायाम विज्ञों के मानस में भ्रमोत्पादन के लिए ही है। उदाहरणों के अन्यथा तात्पर्य को उन्होंने अन्यथायित किया है। यदि अज्ञात सुकृत के कारण तत्त्वज्ञान या मोक्ष में रुचि होती है तो अज्ञात सुकृत ही उनमें हेतु होगा। श्रीभगवत्कृपा उनमें हेतु कैसे हो सकती है? उनका यह उपपादन प्रकार कुछ इस तरह का है—पुत्र के प्रति पिता हेतु है और पिता के प्रति पुत्र का पितामह हेतु है तो पुत्र के प्रति पितामह को ही हेतु के रूप में क्यों न स्वीकार कर लिया जाय, बीच में पिता को पुत्र का हेतु मानना उचित नहीं है। इस तरह की युक्तियाँ लोक में हास्यास्पद होती है। अज्ञात सुकृत के प्रति श्रीभगवत्कृपा ही हेतु है, यह कथन भी असिद्ध है। सुकृतसामान्य के प्रति तत्तत् शास्त्रीयकर्म ही हेतु है। 'सुकृत' शब्द का 'अपूर्व' अर्थ है। वह सुकृत ज्ञात रहे या अज्ञात, कोई अन्य उसका हेतु नहीं हो सकता। ज्ञात है तो कर्म हेतु है और अज्ञात है तो कृपा हेतु है, ऐसा स्वीकार करने पर वैरूप्य की प्रसक्ति होगी। कहाँ-कहाँ कृपा हेतु है और कहाँ-कहाँ कृपा हेतु नहीं है, इसका निर्धारण करना ही बनियौटी है। हम तो ऐसा ही मानते हैं कि श्रीभगवत्कृपा का परिच्छेद कोई नहीं कर सकता। वह अपरिच्छिन्न अर्थात् परिच्छेदातीत है। श्रीआचार्य ने अन्त में नित्यव्यतिरिक्त जीवों का

फलपरम्परा में उनके सुकृतविशेषों को स्वीकार करके नित्य जीवों की सत्ता, स्थिति और प्रवृत्ति में सुकृत को कारण न मानकर कृपा को ही कारण माना है। इस प्रकार से उन्होंने श्रीभगवत्कृपा को एक प्रकार से संकुचित ही किया है। नित्य जीवों का कर्म से कभी सम्बन्ध नहीं रहता, ऐसा उन्होंने कहा है—'तेषां कदापि कर्मसम्बन्धाभावात्।' क्या नित्य जीवन श्रीभगवद्विषयक कर्म भी नहीं करते? यदि करते हैं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उनका कर्मों से कभी सम्बन्ध नहीं रहता? अस्तु! आगे उन्होंने अपने सिद्धान्त के पोषण में श्रीवेदान्तदेशिकजी की सम्मति भी प्रदर्शित की है। ऐसा उन्होंने इसलिए किया है कि श्रीनिगमान्तगुरु परस्परविरुद्ध अर्थ के वक्ता है क्योंकि पहले उनके श्लोक को पूर्वपक्ष के समर्थन के रूप में प्रस्तुत किया है।

अन्त में पुन: उन्होंने निगमन किया है कि श्रीभगवान् के स्वाभाविक अपने असाधारण धर्मों से उनकी कृपा की निर्हेतुकता सिद्ध हो जाती है। श्रीभगवान् के असाधारण धर्म हैं—कारणादिकलेवरप्रदान, चैतन्यशक्तिदान, शास्त्रप्रवर्तन, आचार्यप्रदर्शन, स्वावतार, अतिमानुषव्यापार, सत्त्वप्रवर्तन, अज्ञातसुकृतकल्पन, मोक्षप्रदान। इन सभी का ज्ञान शास्त्र से ही संभव है, ऐसा भी उन्होंने कहा है। यहाँ हम स्वीकार करते हैं कि उक्त सभी कार्य परमात्मा के असाधारण धर्म हैं। उनमें कृपा ही हेतु है, इसे स्वीकार नहीं कर सकते। जीवों का सुकृत-दुष्कृत भी असाधारण हेतु है। ठीक है! श्रीभगवान् की कृपा से ही उक्त कार्य होते हैं तथापि श्रीभगवान् की कृपा सुकृतदुष्कृत की अपेक्षा से ही होती है। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् की कृपा अहैतुकी नहीं होती।

स्थितादुत्तरम्

यह एक यथार्थ पक्ष है कि श्रीभगवत्कृपा अहैतुकी होती है। श्री पराङ्कुशमुनि आदि दिव्यसूरियों के अनुभव का अपलाप हम नहीं कर सकते। कवितार्किकचक्रवर्ती श्रीहर्ष का भी इस विषय में यही अनुभव है कि श्री भगवान् की अहैतुकी कृपा होती है। जैसाकि कहा है—

> **वेदैर्वचोभिखिलैः कृतकीर्तिरत्ने हेतुं विनैव धृतनित्यपरार्थयत्ने।**
> **मीमांसयेव भगवत्यमृतांशुमौलौ तस्मिन् महीभुजितयाऽनुमितिर्न भेजे।।**— *नैषधचरित, ११/६४*

यहाँ पर महाकवि ने यह स्वीकार किया है कि श्रीभगवान् हेतु के विना ही नित्य अन्यों के लिए प्रयत्न करते हैं अर्थात् परमकारुणिक है। कारणनिरपेक्ष ही उनकी कृपा होती है। अत एव नित्य है। 'श्रीभगवत: कृपा नित्या अहैतुकत्वात् आत्मवत्', यह प्रयोग भी उनके नित्यपक्ष में उपपन्न होगा। उस कृपा का लाभ सभी उचित प्रकार से नहीं ले पाते, यह अन्य बात है। समय-समय पर शासन के द्वारा जनहित में विशेष योजनायें प्रचलित होती हैं जिसका पूरा लाभ जनताजनार्दन को नहीं मिल पाता। धर्मनिरपेक्षता के कारण वञ्चक नेता, अधिकारी, ग्रामीण-नागर प्रधान आदि उन योजनाओं का पर्याप्त लाभ ले लेते हैं। शासन की कृपा का पूरा लाभ जनता को नहीं मिलता। पुरस्कार आदि का लाभ भी अनधिकारी तिकड़मी लोगों को प्राय: मिल जाता है। इसी तरह श्रीभगवत्कृपा का उचित लाभ उन्हें ही मिलता है जो वेदादि शास्त्रों के द्वारा बतलाये मार्गों पर चलते हैं। श्रीभगवत्कृपा के लाभ में पूर्णत: धर्मसापेक्षता है। बिचौलिये उसका लाभ नहीं ले सकते। शासकीय

कृपा को धर्मनिरपेक्षता के कारण निर्हैतुकी नहीं कह सकते। कमीशन के लाभ के लिए ही योजनायें चलती हैं। उन योजनाओं का लाभ उनको भी मिलता है जो योजनाओं का उद्‌भावन करते हैं। इसीलिए शासकों की कृपा रूप योजनायें निर्हेतुक नहीं कही जा सकतीं। उन योजनाओं के पीछे शासक पुरुषों का विशाल और नाना वैचित्र्यों से अनुविद्ध स्वार्थ रहता है। जनता का लाभ कम और शासक नेताओं का लाभ अधिक रहता है। चतुर्वर्ग की प्राप्ति के लिए भगवान् की जितनी भी योजनायें शास्त्रों के माध्यम से प्रतानित हैं, उनमें श्रीभगवान् का अपना निजी स्वार्थ नहीं रहता। इसीलिए चतुर्वर्ग की योजनाओं के रूप में फैली श्रीभगवत्कृपा निर्हेतुक ही कही जायेगी।

जीवों के लिए जो कुछ भी श्रीभगवत्कृपा से प्रसूत होता है उसमें उनका प्रारब्ध अवश्य निहित रहता है। इस दृष्टि से विचार करेंगे तो ऐसा कुछ भी प्राप्त नहीं होगा जो केवल ईश्वर की कृपा से ही हो।

विषम उपन्यास

प्रारब्धानुसार ही प्राप्तव्य की प्राप्ति स्वीकार करेंगे तो श्रीभगवान् की कृपा निरवकाश हो जायेगी। अत: प्रारब्ध की उत्तीर्णतादशा में ही श्रीभगवान् की कृपा को स्वीकार करने की आवश्यकता है। जीव की एक दशा वह भी संभव है जहाँ कर्मजन्य सुकृत-दुष्कृत का सम्बन्ध नहीं रहता। वैसी अवस्था में जीव को जो कुछ भगवत्समान ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है या नित्य कैङ्कर्य की प्राप्ति होती है उसमें केवल उनकी कृपा ही हेतु है। इस प्रकार से श्रीभगवद्‌कृपा के निर्हेतुकत्व की व्यवस्था करनी चाहिये? इस विषय में श्रीवेदान्ताचार्य का अनुभव भी उपोद्बलक है—

वनितातनयालयादिसौख्यं निजकर्मानुगुणं भवत्यतन्द्रम्।
तदहं स्पृहयामि नैव तस्मै करुणायै तव वेङ्कटेश! किन्तु।। — *दयासहस्रम्, २६८*

यहाँ आचार्य अपने कर्मों के अनुरूप मिलने वाले स्त्रीसंपर्कजन्य फल आदि की कामना नहीं कर रहे हैं क्योंकि उक्त सभी भौतिक सुख कर्मानुसार स्वत: प्राप्त हो जायेंगे। वे श्रीभगवत्कृपा चाहते हैं अर्थात् कृपा से ही कुछ विलक्षण सौख्य की इच्छा करते हैं। यह तभी उपपन्न होगा जब कुछ पदार्थ केवल श्रीभगवत्कृपा से ही प्रसूत माने जायेंगे?

महानुभाव! आप श्रीभगवत्कृपा को संकुचित क्यों कर रहे हैं? आचार्य की कामना भी प्रारब्धानुस्यूत श्रीभगवत्कृपा को न प्राप्त कर तदुत्तीर्णकृपाविषयक हैं। उक्त पद्य का यही तात्पर्य है कि उनकी बुद्धि उन साधनों तक ही सीमित न रहे जिनसे पत्नीपुत्रादिविषयक सुख की ही प्राप्ति हो। श्रीभगवत्कैङ्कर्यविषयक सुख के साधनों तक ही वे अपनी बुद्धि को परिच्छिन्न करना चाहते हैं। वे वैदैकसमधिगम्य साधन भी उस फल के प्रति कारण हैं। जिसे आप केवलश्रीभगवत्कृपाप्रसूत मान रहे हैं। प्रारब्ध का भोग से ही क्षय होता है, इसमें किसी की भी विपत्तिपत्ति नहीं है। संचित का नाश नित्य-नैमित्तिक और प्रायश्चित्त कर्मों से अभीष्ट ही है। संचेष्यमाण की हानि काम्य कर्मों के न करने से और श्रीभगवदर्पणबुद्धि से करने से होगी। इस तरह प्रारब्धोत्तीर्णता की दशा में कृपा से अन्य हेतुओं को न चाहने पर भी मानना ही पड़ेगा। फलत: श्रीभगवत्कृपा

की अहैतुकता श्रीभगवान् के स्वार्थ के अभाव के रूप में ही स्वीकार करनी पड़ेगी। स्वयम् श्रीभगवान् ही इसी पक्ष को प्रकट करते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।। — *श्रीगीता ३/२२*

यहाँ भाष्य में आये 'आप्तकामस्य', इस श्रीभगवान् के विशेषण की व्याख्या में श्रीवेदान्ताचार्य कहते हैं–

न च मे संकल्पमात्रादसाध्यमित: पूर्वमभिलाषदशामात्रापन्नं प्रयोजनमस्ति यदुपायतया कर्म कर्तव्यमितिभाव:। — *तात्पर्यचन्द्रिका।*

एवञ्च यही सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् का जो कुछ भी व्यापार होता है उसमें उनका स्वप्रयोजन रूप कोई स्वार्थ नहीं रहता अत एव उनकी कृपा अहैतुकी होती है।

केवल कृपा से सामान्य सृष्टि होती है, विषमसृष्टि में जीवों का प्रारब्ध हेतु है, यह कथन सर्वथा अनुचित है। सृष्टि का कोई ऐसा प्रकार नहीं है जहाँ श्रीभगवत्कृपा हेतु न हो। ऐसा कोई स्थल नहीं है जहाँ श्रीभगवत्कृपा न होती हो। ऐसी कोई सृष्टि भी नहीं है जहाँ अज्ञातसुकृतविशेष कारण न हो। श्रीवेदान्ताचार्य ने ऐसा अनुभव भी किया है—

अवाप्तसर्वकामस्य सृष्ट्या किं ते प्रयोजनम्।
चेतनोज्जीवनायैव हन्त! ते करुणा हरे!।। —*दयासहस्रम् १०८*

यहाँ पर निज प्रयोजन के अभाव को लेकर ही कृपा की निर्हेतुकता कही गयी है।

सकल्पमात्रपरिकल्पितसर्वलोक: कर्मानुरूपकृतजन्मिशरीरयोग:।
तत्रापि तत्सुकृतदुष्कृतयोग्यभोग दातासि देव! करुणा स्पृहणीयरूपा।।

— *दयासहस्रम्–१०४*

यहाँ पर भी श्रीभगवान् के असाधारण सामर्थ्य का कथन करके जीवों के कर्मानुरूप शरीर की संरचना में और उनके पाप-पुण्य के अनुसार ही भोगप्रदान में अहेतुकी कृपा निज स्वार्थ के अभाव को लेकर ही प्रकट की गयी है।

निज स्वार्थ में अन्ध पुरुष ही कर्मानुसारी फल की व्यवस्था नहीं करते। इसका बखूबी दर्शन इस समय किया जा सकता है। अपराधी यदि आबाद हैं तो शासक का स्वार्थ ही इसमें हेतु है। इस प्रकार कृपा का अहैतुकता निजी स्वार्थ के अभाव में ही सिद्ध होती है।

श्रीभगवान् जीवों के प्रारब्धानुसार ही उनके शरीर की संरचना करते हैं, इस अर्थ में भी उनकी अहैतुकी कृपा का दर्शन किया जा सकता है। प्रारब्ध का भोग किसी भी तरह के शरीर से हो सकता है फिर भी श्रीभगवान् ने स्थावर और जङ्गम दोनों प्रकार के प्राणियों में वैचित्र्य का संपादन किया है जो उनकी कृपा का ही परिणाम है। श्रीवेदान्ताचार्य ने इसका भी अनुभव कुछ इस रूप में किया है—

विटिपिषु विविधेषु केचिदात्तप्रसवगुणाः कतिचित् फलाभिरामाः।
वृषशिखरिविभो! सपत्रमात्राः कतिचिदिदं करुणाविभेदतस्ते।। — *दयासहस्रम्-१४७*

कृमिकीटजनिष्वपि प्रतीतस्फुटवर्णस्पृहणीयतोद्गता या।
ननु सापि वृषाद्रिशेखर! त्वत्करुणातूलकया त्वया कृपा हि।। — *दयासहस्रम्-१४८*

यहाँ पर पूर्व श्लोक में करुणा का विभेद जीवों के प्रारब्ध को लेकर ही संभव है। उत्तर श्लोक में भी नाना प्रकार की मछलियों, तितलियों, पक्षियों, फनिगों आदि में जो श्रीभगवान् की करुणारूपी तूलका (चित्रकला का साधन) की चित्रकला को प्रदर्शित किया गया है वहाँ भी प्रारब्धों का दर्शन कर सकते हैं। सारे जीव किसी भी आकार वाले कृमि-कीट आदि के शरीर में अपने प्रारब्ध का भोग कर सकते हैं फिर उनमें चित्रता के उपन्यास की क्या आवश्यकता है? कृपा ही कारण यहाँ पर हो सकती है।

यद्यपि कीटादि के शरीरों में जो चित्ताकर्षक वैचित्र्य दिखाई देता है वहाँ भी सुकृतदुष्कृतपरिपाकरूप प्रारब्ध का अपलाप नहीं किया जा सकता तथापि उसके संपादन में स्वार्थनिरपेक्ष श्रीभगवत्कृपा देखी जा सकती है। शरीरों की विचित्र संरचना में उन-उन शरीरधारी जीवों का ही प्रारब्ध है, ऐसा नहीं मान सकते। जैसे किसी कामिनी की सुन्दर शरीर संघटना के पीछे केवल उसका ही प्रारब्ध नहीं है। अपने प्रारब्ध का भोग वह जिस किसी भी प्रकार की शरीरसंघटना से कर सकती है। उसकी शरीरसंघटना में लावण्य से संपृक्त जो वैचित्र्य प्राप्त होता है उसमें अनेकों का प्रारब्धभोग सम्मिलित है। कवियों की काव्यकला भी उससे जुड़ी हुई है। बहुत पुरुष उसे देखकर आहें भरते हैं तो वह उनके दुष्कृतविपाकों का भी फल है। कोई उसे प्राप्त करके धर्मधारा में अवगाहन करता है तो वह उसके सुकृतविपाक का भी फल होगी। गोस्वामी तुलसीदास की पत्नी उनके अनेक जन्मों के अर्जित सुकृतविपाक का ही फल थीं जिनके माध्यम से वे श्रीभगवान् से तादात्म्य स्थापित करने में सफल हुए।

ये सुन्दर नारियाँ और इनका अपने-अपने कान्तों के साथ नानावैचित्र्य संवलित सुरतप्रकार न होता तो आज महाकविकालिदास कालिदास नहीं होते। इन सभी के अभाव में उनकी कविताओं का वैसा समुल्लास असंभाव्य था।

यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः।
शिप्रावात :प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः। —*मेघदूत*

इस प्रकार कवितायें तथाविध सुरतप्रकारों के अनुचिन्तन के विना संभव ही नहीं है। इसी तरह नानाप्रकारक लता-गुल्म-वृक्ष-वनस्पति आदि स्थावरप्रभेद और कृमि-कीट-पतङ्ग-पशु-पक्षियों आदि जङ्गम प्राणियों के प्रभेद उन महापुरुषों के सुकृतविशेषों के विपाक भी हैं जिनके अनुचिन्तन से वे श्रीभगवान् के लोकोत्तर सामर्थ्य का आकलन करके विशिष्ट काव्य के समुल्लास के साथ-साथ प्रपन्नपारिजात होकर दिग्दिगन्त को सुरभित करते हैं। उनके उस सौरभ की कणिका का प्रसाद जो हमें प्राप्त होता है तो क्या उनके प्रारब्ध के साथ हमारा प्रारब्ध नहीं जुड़ा है? दिव्य सूरियों के साथ भी हमारा प्रारब्ध जुड़ा है। जब श्रीभगवान्

के साथ भी हमारा प्रारब्ध जुड़ा है तो किसके साथ नहीं जुड़ा होगा? अनन्त जीवों के सम्मिलित प्रारब्ध के फलरूप में व्यवस्थित इस विषम सृष्टि में कुछ भी श्रीभगवान् की कृपा के विना संभव नहीं है। श्रीभगवान् सभी प्राणियों के परमात्मा के रूप में अवस्थित होकर उन्हें आनन्दरस पिण्ड प्रदान करते हुए यथाकाल पापों के विपाकों का भोग करा देते हैं। यदि गटर के कीड़ों आदि में आनन्द रस का संचार न होता है तो उनका जीवन ही संभव न होता। फिर वे अपने दुष्कृतविपाकों का भोग कैसे करते? इस कलियुग के नराधम नाना प्रकार के कुकर्मों को करते हुए भी सुरा-सुन्दरी में ही आनन्दातिरेक से कृतार्थ दिखायी देते हैं। ऐसा श्रीभगवत्कृपा से ही संभव है। मरने के बाद जो यमलोक में भीषण यातना भोगते हैं उसमें उन यातनाओं को भोगने का सामर्थ्य श्रीभगवत्कृपा से ही संभव है। तात्पर्य यही है कि यह विषम संसार श्रीभगवत्कृपा पर ही टिका है जिसमें श्रीभगवान् का अपना कोई निजी स्वार्थ नहीं है। इसीलिए उनकी कृपा अहैतुकी है। इस पक्ष में श्रीजग्गुवेङ्कटाचार्यजी के द्वारा उदाहृत इस श्री के वचन की संगति को भी समझा जा सकता है—

एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभिः।
जीवे दुःखाकुले विष्णो :कृपा काऽप्युपजायते।।

संसार में निजकर्मानुकूल जीव जब दुःखों से व्याकुल होता है, तब श्रीभगवान् की उसके ऊपर कोई विलक्षण कृपा हो जाती है, फलतः वह दुःखझज्झावातों को झेलने में समर्थ हो जाता है। प्रायः दुःखभारों से प्रपीड़ित जन भी जब पारिवारिक अभ्युदय की वार्ता सुनता है तब चैन की साँस लेता है। उसको यह अवसर श्रीभगवत्कृपा से ही प्राप्त होता है अतः श्रीभगवत्कारुण्य अभय की ओर ले जाता है।

श्रीभगवान् की इस तरह हर कृपा निजस्वार्थप्रयुक्त न होने के कारण अहैतुकी ही होती है, यह बात सिद्ध हुई। यही है श्रीभगवान् का निर्हेतुक कृपाकटाक्ष।

अध्यापक
पूर्वमीमांसाविभाग
सम्पूर्णानन्दसंस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी (उत्तर प्रदेश)

धर्मसम्राट् श्रीकरपात्र स्वामी

रवि अग्रवाल

परमपूज्य श्रीकरपात्र स्वामी का प्रादुर्भाव विक्रमसंवत् १९६४ श्रावण शुक्ल द्वितीया (तदनुसार १२ अगस्त, उन्नीस सौ सात ईस्वी) में उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ जनपद के 'भटनी' ग्राम में हुआ था। आपके बाल्यकाल का नाम श्री हरनारायण ओझा था। पिता का नाम श्रीरामनिधि ओझा एवं माता का नाम श्रीमती शिवरानी देवी था। सरयूपारीण ब्राह्मण कुल में परममाहेश्वर उपमन्यु महर्षि के गोत्र में 'करैली' ओझा की उपाधि से विभूषित श्रीकरपात्र स्वामी के पूर्वज गोरखपुर जनपद के 'ओझौली' ग्राम के निवासी थे।

स्वामी जी का प्रारम्भ में प्रतापगढ़ के भटनी ग्राम में ही स्थानीय विद्यालय में कुछ दिनों तक प्रारम्भिक अध्ययन हुआ। वहाँ बालक हरनारायण ने व्याकरण ग्रन्थों के साथ-साथ धर्म एवं सदाचार आदि के स्मृति ग्रन्थों को भी लगन के साथ आत्मसात् किया।

उनके मन में पूर्वजन्म के संस्कार के कारण वैराग्य की भावना उठती रहती थी। यह देखकर पिताजी ने नव वर्ष की अवस्था में ही उनको परिणय-सूत्र में बाँध दिया। १९१६ ई. में खण्डवा ग्राम निवासी श्रीरामसुचित जी की पुत्री महादेवी के साथ आपका विवाह हुआ। उन्हें एक कन्यारत्न की प्राप्ति भी हुई, जो भगवतीस्वरूपा भगवती नाम से ही जानी जाती रही। लगभग १९ वर्ष की अवस्था में गृहस्थ जीवन से विमुख होकर नगरों, ग्रामों, तीर्थों, दुर्गम जंगलों नद-नदियों, मठ-मंदिरों, पुण्य क्षेत्रों में भ्रमण, अध्ययन, तीर्थाटन करते हुए स्वामीजी ने मध्य प्रदेश के वीरसिंहपुर ग्राम में दण्डी स्वामी ब्रह्मानन्द जी से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा प्राप्त कर हरिचैतन्य नाम को धारण किया। उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर जनपद के नरवर में व्याकरण, न्याय, वेदान्त आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। आपको अनेक सन्त सिद्धमहात्माओं के साथ स्वामी विश्वेश्वराश्रम जी, श्री जीवनदत्त जी के सान्निध्य में विशेष अध्ययन-सत्संग का अवसर प्राप्त हुआ। इस प्रकार चालीस वर्ष की अवस्था में स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी के सान्निध्य में काशी में दुर्गा कुण्ड के निकट एक शिव मन्दिर में स्वामी जी से संन्यास-दीक्षा ग्रहण कर हरिहरानन्द सरस्वती करपात्र स्वामी के नाम से विख्यात हुए।

स्वामी जी ने सनातन धर्म के प्रति हिन्दू जनमानस को उल्लासित करने के लिए १९४० ई. में दुर्गाकुण्ड के नजदीक भारतीय धर्म संघ की स्थापना की तथा वे उसके प्रचार-प्रसार के लिए गोमुख से गङ्गासागर तक गङ्गातट मार्ग से पैदल चलकर विविध यज्ञ एवं अनुष्ठान करते रहे। उन्होंने धामिक विचारों के उपस्थापन के लिए, नास्तिकों के मत का खण्डन करने तथा शास्त्रोक्त विचारों के प्रचार के लिए '*सिद्धान्त*' नामक पत्र

प्रकाशित करवाया, जिसमें संस्कृत एवं हिन्दी के लेख प्रकाशित होते थे। घर-घर में धर्म की चर्चा हो, अधर्मवाद का खण्डन हो, इसके लिए '*सन्मार्ग*' नामक दैनिक हिन्दी समाचार पत्र का भी प्रकाशन करवाया। राजनीति एवं धर्म में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए, लोक के अभ्युदयपरक धर्म की वृद्धि के लिए, धार्मिक लोगों की राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश की प्रेरणा देने के लिए करपात्र स्वामी ने सितम्बर १९४५ ई. में अखिल भारतीय रामराज्य परिषद् (राजनीतिक दल) की स्थापना की।

हरिहरानन्द सरस्वती करपात्र स्वामी ने वेदविषयक अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिसमें *वेदार्थपारिजात, वेदस्वरूपविमर्श, वेद-प्रामाण्यमीमांसा वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्ल-यजुर्वेदसंहिता-भाष्य* संस्कृत में निबद्ध ग्रन्थ है। उन्होंने हिन्दी में *वेद का स्वरूप और प्रामाण्य* नामक ग्रन्थ की रचना की।

करपात्र स्वामी ने एकादश प्रकरणात्मक '*भक्तिरसार्णव*' नामक ग्रन्थ की रचना भी संस्कृत में की। हिन्दी में निबद्ध उनके ग्रन्थ हैं—*भक्तिसुधा, पिबत भागवतं रसमालयम्, भागवतसुधा, श्रीराधासुधा रास-पञ्चाध्यायी, वेणुरव, माँ के चरणों में, रास और प्रयोजन, रामायणमीमांसा, श्रीभागवततत्त्व, अहमर्थ और परमार्थसार, गीता का हुक्मनामा, संकीर्तनमीमांसा और वर्णाश्रममर्यादा, गीताजयन्ती और भीष्मोत्क्रान्ति* आदि।

करपात्र स्वामी ने उत्तर भारत में श्रीविद्या की उपासना को जन-जन में आत्मसात् कराने के लिए *महात्रिपुरसुन्दरीवरिवस्या, श्रीविद्यारत्नाकर, श्रीविद्यावरिवस्या* आदि ग्रन्थों की रचना कर लोककल्याण किया।

रामायण-महाभारत-कलमीमांसा-विदेशयात्रा-शास्त्रीयपक्ष, क्या सम्भोग से समाधि, राहुल जी की भ्रान्ति, शाङ्कर सिद्धान्तों पर किये गये आक्षेपों का समाधान, शाङ्करसिद्धान्त-समाधान, हिन्दू कोडबिल प्रमाण की कसौटी पर इनके अशास्त्रीयमतखण्डनात्मक ग्रन्थ हैं।

मार्क्सवाद और रामराज्य, सङ्घर्ष और शान्ति, पूँजीवाद, समाजवाद और रामराज्य, बदलती दुनिया, ये राजनीतिक दल, धर्म और राजनीति, गम्भीर विचार की आवश्यकता, जाति, राष्ट्र और संस्कृति, रामराज्य, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिन्दू धर्म, रामराज्य परिषद् और अन्य दल, आधुनिक राजनीति और रामराज्य परिषद्, राजनीति में भी ईमानदारी—व्यक्तिगत या सामूहिक, समन्वय, साम्राज्य संरक्षा आदि राजनीतिकपरक ग्रन्थों की रचना भी करपात्र स्वामी द्वारा की गयी।

करपात्र स्वामी ने सदाचार की शिक्षा देने के लिए *विचार-पीयूष, धर्मकृत्योपयोगितिथ्यादिनिर्णय, कुम्भनिर्णय, चातुर्वर्ण्य संस्कृतिविमर्शः* आदि ग्रन्थों की रचना की।

स्वामी जी कलियुग में धर्मप्रवर्तक, यज्ञावतार, धर्मसम्राट्, अभिनवशङ्कराचार्य आदि विरुदों से विभूषित हुए। आपने वेद, धर्म, यज्ञ आदि के संरक्षण के दायित्व का निर्वाह किया। स्वामी जी ने राजनीति में धर्म के औचित्य का प्रबल प्रतिपादन किया और वे 'शास्त्रार्थमहारथी' उपाधि से विभूषित हुए। अन्ततः उन्होंने अपने लिये लौकिक जीवन को अनुपयोगी माना और ब्रह्मनिष्ठवृत्ति को धारण करने के लिए भगवान् शिव के त्रिशूल पर विराजमान

काशी के केदारखण्ड में ७ फरवरी, १९८२ तदनुसार माघ शुक्ल चतुर्दशी पुष्यनक्षत्र सर्वार्थसिद्धि योग की प्रभात वेला में पद्मासन पर आसीन होकर महायात्रा में प्रस्थान करने हेतु पार्थिव शरीर की लीला का संवरण कर लिया।

शाङ्करपरम्परा में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में 'श्रीहरिहरानन्द सरस्वती' 'करपात्रस्वामी' जी ने उत्तर भारत में विलुप्तप्राय श्रीविद्या का पुनरुत्थान का कार्य सम्पन्न किया। यद्यपि श्रीस्वामी करपात्री जी महाराज ने वेदान्त, भक्ति एवं अष्टाङ्गयोग आदि साधनपद्धतियों द्वारा परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया था, तथापि केवल लोककल्याण की भावना से श्रीविद्यासाधनापद्धति का आलम्बन किया एवं पूर्ण विधि-विधान से श्रीयन्त्राधिष्ठात्री भगवती राजराजेश्वरी ललितामहात्रिपुरसुन्दरी का उच्चतम उपासनाक्रम अनुष्ठित किया तथा उत्तर भारत में विलुप्त हो रहे श्रीविद्यासम्प्रदाय को अपने तपोबल से पुन: प्रतिष्ठापित किया।

के १/१ गायघाट
वाराणसी
०९४१५२०६७२०

श्रीविद्यासाधनापीठ, वाराणसी के द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों की सूची

		मूल्यम्
श्रीविद्यारत्नाकरः	षोडशानन्दनाथश्रीकरपात्रस्वामिरचित	400
श्रीविद्यावरिवस्या	षोडशानन्दनाथश्रीकरपात्रस्वामिरचित	200
श्रीमहागणपतिवरिवस्या	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	60
श्रीभुवनेश्वरीवरिवस्या	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	50
श्रीललितासहस्रनामस्तोत्रम्	दत्तात्रेयानन्दनाथ–सम्पादित	20
उपचारमीमांसा	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	50
मन्त्रमहायोग	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचित	20
श्रीविद्या एवं श्रीयन्त्र एक परिचय	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचित	20
श्रीविद्यार्णवतन्त्रम् (प्रथम एवं द्वितीय भाग) हिन्दी वृत्ति	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	1800
श्रीविद्यापञ्चरत्नम्	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचितम्	–
तान्त्रिकम् अष्टाङ्गम्	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचितम्	–

आगमतन्त्र की षाण्मासिक शोध पत्रिका

1. श्रीविद्यावार्ता – स्मारिका 1999–2001	125
2. श्रीविद्यावार्ता – (अमृतमहोत्सव विशेषाङ्क) 2002–2003	125
3. श्रीविद्या – 2008–2009	125
4. श्रीविद्या – 2010–2011	125
5. श्रीविद्यामन्त्रमहायोग – वर्ष प्रथम अङ्क प्रथम, अगस्त 2011	125
6. श्रीविद्यामन्त्रमहायोग – वर्ष प्रथम अङ्क द्वितीय, फरवरी 2012	125
7. श्रीविद्यामन्त्रमहायोग – वर्ष द्वितीय अङ्क प्रथम, अगस्त 2012	125
8. श्रीविद्यामन्त्रमहायोग – वर्ष द्वितीय अङ्क द्वितीय, फरवरी 2013	125
9. श्रीविद्यामन्त्रमहायोग – वर्ष तृतीय अङ्क प्रथम, अगस्त 2013	125

श्रीयन्त्रम्

श्रीविद्यासाधना पीठ, वाराणसी

श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ जी (सीताराम कविराज) ने सन् १९९६ ई० में श्रीविद्या मन्त्रयोग द्वारा भगवती पराम्बा ललितामहात्रिपुरसुन्दरी की उपासना तथा श्रीविद्या परम्परा के संरक्षण, संवर्धन एवं प्रसार के लिये श्रीविद्या साधना पीठ की स्थापना की। भारतवर्ष में अपने प्रकार की अद्वितीय इस संस्था की स्थापना स्वामी करपात्री जी महाराज के द्वारा उत्तर भारत में लुप्तप्राय श्रीविद्या उपासना को पुनरूज्जीवित व समृद्ध करने के उद्देश्य से की।

संस्था का भवन

वाराणसी में नगवा क्षेत्र में गंगाजी के सुरम्य तट के निकट ही अत्यन्त प्रशस्त और शान्त स्थल में नवनिर्मित चार मंजिल के भवन में यह आश्रम प्रतिष्ठत है। इसमें दो विशाल सभाकक्ष एवं तेरह कक्ष हैं, जिनमें यज्ञमण्डप, अर्चनकक्ष, ग्रन्थालय, शिक्षा एवं अनुसन्धान प्रकाशन विभाग एवम् अतिथि कक्ष आदि स्थित हैं।

श्रीविद्या साधना पीठ के अङ्ग विभाग एवम् गतिविधियाँ

उपासना, अनुसन्धान एवं शिक्षण, (अध्यापन एवं छात्रावास सहित), प्रकाशन, ग्रन्थालय, साधक प्रशिक्षण/ साधकावास एवम् अतिथिकक्ष।

साधना पीठ में निगमागम शास्त्रों द्वारा विहित उपासना यथाविधि नियमित रूप से सम्पन्न होती है। दीक्षित साधक/साधिकायें पारम्परकि आचार्य के निर्देशन में यह साधना सम्पन्न कर रहे हैं।

शिक्षण विभाग में छात्रों को सुयोग्य विद्वानों द्वारा वेद शास्त्र का नियमित अध्ययन कराया जाता है एवं उन्हें आगमतन्त्र का सामान्य रूप से तथा श्रीविद्या का विशेष रूप से प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

श्रीविद्या-साधकों के पथप्रदर्शन, श्रीविद्यायन्त्रार्चन पद्धति के प्रशिक्षण आदि के साथ-साथ श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ वाङ्मय का प्रकाशन, श्रीविद्यासाधकों की सेवा, सहयोग एवं मार्गदर्शन के लिए पीठ का द्वार सदा उद्घाटित है। श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन क्रम में श्रीविद्यारत्नाकर, श्रीविद्यावरिवस्या (पूजापद्धति), भक्तिसुधा, भुवनेश्वरीवरिवस्या, साम्बपञ्चाशिका (हिन्दी व्याख्या), विरूपाक्षपञ्चाशिका (हिन्दी व्याख्या), श्रीललितासहस्रनाम स्तोत्र, श्रीमहा- गणपतिवरिवस्या, उपचारमीमांसा आदि के अनन्तर साङ्गोपाङ्ग श्रीविद्योपासना का अपरिमेय सागर श्रीविद्यार्णवतन्त्र (भाग १–२) हिन्दी भावविवृति सहित सुलभ है।

साधनापीठ में करपात्र स्वामी स्मृति आगम के ग्रन्थों का एक ग्रन्थागार है इसमें आगम पर देश और विदेशों में प्रकाशित ग्रन्थो, आगम–तन्त्र की पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह आरम्भ कर पाण्डुलिपि सङ्ग्रहालय स्थापित कर अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन भी आरम्भ किया जा रहा है।

पूज्य गुरुदेव दत्तात्रेयानन्दनाथ जी द्वारा श्रीविद्यासाधना पीठ के सम्मुख भव्य उपासना मण्डप एवं श्रीविद्यासाधना की प्रधान अङ्गभूत अनुत्तराम्नायअधिष्ठात्री श्री श्रीशांकरी देवी ललिता महात्रिपुरसुन्दरी की भव्य प्रतिमा एवं श्रीयंत्र की स्थापना भी की गयी हैं। जहाँ प्रतिदिन श्रीयंत्र की महापूजा होती है।

शिक्षण/प्रशिक्षण

साधनापीठ में इस समय १० छात्र भोजन एवं आवास की सुविधा के साथ नि:शुल्क शिक्षण एवं साधना का प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं।

उपर्युक्त सुविधाओं के साथ ही नियमित छात्रवृत्ति एवं छात्रों की शिक्षा पूरी होने पर उनके नाम जमा की गयी एक निश्चित धनराशि देने का भी प्रावधान किया गया है।

अनुसन्धान एवं प्रकाशन

साधनापीठ अपने अनुसन्धान एवं प्रकाशन के कार्यक्रम का और विस्तार करेगा और श्रीविद्या के विभिन्न क्षेत्रों में तथा सामान्यत: आगमतंत्र के रहस्यो को साधको तक उपलब्ध कराने हेतु षणमासिक पत्रिका श्रीविद्या का नियमित प्रकाशन किया जा रहा है।

साधना

साधना के क्षेत्र में भी देश और विदेश के जिज्ञासु साधकों को समुचित निर्देश और प्रशिक्षण प्रदान करने के लिये आवश्यक तन्त्र का विस्तार किया जा रहा है।

श्रीविद्यासाधना पीठ द्वारा प्रकाशित श्रीदत्तत्रेयानन्दनाथ जी द्वारा सम्पादित एवं रचित ग्रन्थों की सूची

			मूल्य
१.	श्रीविद्यारत्नाकरः	षोडशानन्दनाथश्रीकरपात्रस्वामिरचित	४००/–
२.	श्रीविद्यावरिवस्या	षोडशानन्दनाथश्रीकरपात्रस्वामिरचित	२००/–
३.	श्रीमहागणपतिवरिवस्या	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	६०/–
४.	श्रीभुवनेश्वरीवरिवस्या	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	५०/–
५.	श्रीललितासहस्रनामस्तोत्रम्	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	२०/–
६.	उपचारमीमांसा	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	५०/–
७.	मन्त्रमहायोग	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	२०/–
८.	श्रीविद्या एवं श्रीयन्त्र एक परिचय	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	२०/–
९.	श्रीविद्यार्णवतन्त्रम् (प्रथम एवं द्वितीय भाग) हिन्दी वृत्ति	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	प्रति सेट १८००/–
१०.	श्रीविद्यापञ्चरत्नम्	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	–
११.	तान्त्रिकम् अष्टाङ्गम्	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	–
१२.	आगमतन्त्र की षाण्मासिक शोध पत्रिका		१२५/–